प्रवचन — मंत्री पं० प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी म०

बुद्धि की तुलापर — सम्माननीय न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथजी मोदी

प्रकाशक — सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
जोधपुर (राजस्थान)

प्राप्ति-स्थल
- सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल
  जिनवाणी कार्यालय
  जयपुर (राजस्थान)
- भण्डारी सरदारचन्दजी
  जैन बुकसेलर्स, त्रिपोलिया बाजार,
  जोधपुर (राजस्थान)

मूल्य
- एक रुपया, पच्चीस नये पैसे

संस्करण — प्रथम नवम्बर १९६२

मुद्रक — नवयुग प्रेस, जोधपुर.

सम्यग्-ज्ञान रु सम्यग् दर्शन,
और अहा! सम्यक्-चारित्र।

सर्वोत्कृष्ट साधना का यह-
राजमार्ग है परम पवित्र॥

इस पथ के जो पथिक बने हैं-
उनको मेरा हृदय-चरित्र।

करूँ समर्पण, स्वीकृत कर वे,
मुझे सफलता दें प्रिय मित्र॥

- साधना के महामार्ग पर वीर पुरुष ही चल सकते हैं।

—भगवान महावीर

- बिना साधना ईश्वर नहीं मिल सकता।

—रामकृष्ण परमहंस

- साधना स्वेच्छा से स्वीकारी हुई शिस्त है।

—स्वामी रामदास

- अनुभवी गुरु के मार्ग - दर्शन में जिसने सांगोपांग साधना की है उस भाग्यशाली को ही प्रखर वैराग्य युक्त सन्यास और अनुभवात्मक ब्रह्म ज्ञान का लाभ होता है।

—ज्ञानेश्वर

अभिमत

प्रस्तुत पुस्तक में जैन - शास्त्रा प्रतिपादित साधना-मार्ग का सरल ढंग से विवेचन किया गया है। जैन धर्म सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र को मुक्ति-मार्ग मानता है इस त्रिपुटी को रत्नत्रय कहा जाता है।

ज्ञान आत्मा का सहज स्वभाव है और उससे आत्मा ज्योतिर्मय है। ज्ञान के आलोक में ही लौकिक और लोकोत्तर जगत् की वास्तविक जानकारी प्राप्त होती है, वस्तुतः ज्ञान के बिना सब शून्य है, अतः ज्ञानाराधन साधकों के लिए अत्यावश्यक है।

सम्यग्दर्शन साधना का मूल-आधार है। इसकी प्राप्ति से मानव कमल-जल की स्थिति वाला बनकर संसार में रहते हुए भी उससे अलिप्त हो जाता है। आत्मा में एक अभिनव आलोक उत्पन्न होता है, जिससे साधना पथ के तिमिर का नाश हो जाता है।

साधना की अन्तिम सीढ़ी चारित्र है। चारित्र के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं होता, अतएव चारित्र को मुक्ति की कुञ्जी भी कहते हैं।

स्वाध्याय प्रेमियों के लिए प्रस्तुत पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

गतवर्ष विजयनगर में मंत्री मुनि श्री पन्नालाल जी म० के सानिध्य में जब मंत्री श्री पुष्कर मुनि जी म० के संग देवेन्द्र मुनि से मिलन हुआ तो उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित साधना का राजमार्ग

की कॉपी देखने के लिए प्रस्तुत की। सैद्धान्तिक विषय पर सरल, सुगम, स्पष्ट एवं मनोहर भाषा में चालनम-प्रबन्ध देखकर मन को प्रसन्नता हुई। कुछ स्थलों में जहाँ संशोधन अपेक्षित था, उनकी सूचना करते हुए मुनि श्री को यह ध्यान दिलाया कि इस प्रकार मौलिक विषयों पर लिखते रहें। तो शास्त्रों का परिशीलन, अध्ययन-वृद्धि, श्रुत-सेवा और लोक-मानस में धर्म-जागरण का लाभ भी प्राप्त हो सकेगा।

मैं आशा करता हूँ, लेखक मुनि आगे भी आगम साहित्य का परिशीलन कर, द्रव्यानुयोग, कर्म-मीमांसा आदि आवश्यक विषयों पर लिखें तो अधिक उपयोगी होगा। हमारा इतिहास भी प्रामाणिक खोज की आवश्यकता रखता है। यदि इस सम्बन्ध में कुछ अधिक अन्वेषण और गवेषण किया जाय तो समाज की महती आवश्यकता पूर्ण हो सकती है।

मेरी शुभ कामना है कि मुनि श्री श्रुत-सेवा में अधिकाधिक लाभ लेते रहें।

सैलाना
कार्तिक पूर्णिमा

— उपाध्याय हस्तीमल्लो मुनिः

बुद्धि की तुला पर

आज का युग विज्ञान का है, 'साइंस' (Science) और टेक्नोलोजी (Technology) का है। इस युग का मानव अपने बुद्धि बल के उत्कर्ष से भौतिक तथ्यों की खोज में सतत प्रयत्नशील है। फलस्वरूप उसने भौतिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में आश्चर्यजनक आविष्कार किये हैं, जिनके ब्योरे में जाने का न यह समुचित अवसर ही है और न उपयुक्त स्थान ही। उसने अन्तरिक्ष में उड़ाने भरी हैं और इस दिशा में उसे विपुल सफलता भी प्राप्त हुई है। वह चन्द्र लोक की यात्रा करने का भरसक प्रयत्न कर रहा है और उसका यह दावा है कि वह इस प्रयास में भी सफलता प्राप्त करके ही रहेगा। इतना ही नहीं इस युग के मानव ने अपने बुद्धि बल से अनेक ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया है कि जिनका दुरुपयोग समुचे विश्व का कुछ ही क्षणों में विनाश कर सकता है। बड़े बड़े राष्ट्र इस प्रतिस्पर्धा में तल्लीन हैं कि उनकी विध्वंसकारी शक्तियाँ विरोधी पक्ष से कई गुना बढ़ी चढ़ी हों। काश, यह अरबों खरबों की धनराशि इस विश्व के अशिक्षित, निर्धन, बेकारी में फँसे, निर्बल और अशक्त मानवों की सुख सुविधा की योजनाओं में व्यय होती !

जो भी हो, यह बात असंदिग्ध रूप से कही जा सकती है कि आज के मानव की भौतिक प्रगति में और उसके सांस्कृतिक तथा आत्मिक क्षेत्र के जीवन की गतिविधि में भयावह अन्तर है। यदि मानव समाज को इस भूतल पर जीवित रहना है तो उसे इस अंतर को शीघ्रातिशीघ्र मिटाना होगा।

अतएव इस युग का यह एक महान् और ज्वलंत प्रश्न है कि आज का मानव अपनी भौतिक प्रगति की मदहोशी में अपनी आत्मा को न खो बैठे, मानव मानवता का पुजारी हो, न कि दानवता और बर्बरता का।

इसी पाठ को पढ़ाने के लिए श्रद्धेय मंत्री पण्डित प्रवर श्री पुष्करमुनि जी महाराज की प्रस्तुत कृति 'भावना का राजमार्ग' एक महान् तथा शुभ प्रयास है। महाराज श्री जैनधर्म के एक विशिष्ट विचारक संतों में से हैं। इस पुस्तक में उन्होंने मानव जीवन के अनेक मर्मस्पर्शी प्रश्नों को सुलझाने का सुप्रयास किया है।

मानव जीवन का वास्तविक साध्य क्या है? उनके साधन क्या हैं, उन्हें किस प्रकार साधा जासकता है? सभी मानव सुख और शान्ति चाहते हैं—लेकिन बाह्य सुख और आन्तरिक सुख में कितना अन्तर है—एक क्षणिक तथा दुःखान्त है तो दूसरा शाश्वत और सुखान्त है। इनका और इनसे सम्बन्धित अनेक दूसरे प्रश्नों का तात्विक विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में इतना सारगर्भित और आकर्षक ढंग से किया गया है उसकी अनुभूति तो पाठक को तबही हो सकती है जब वह इसे आद्योपांत पढ़ने के साथ ही चिन्तन और मनन करने का भी श्रम करें।

मैं मानता हूँ महाराज श्री का अध्ययन विशाल और विस्तृत है जिसका प्रतिबिम्ब प्रत्येक प्रवचन में झलक रहा है। ये प्राञ्जल प्रवचन प्रधानतः जैनागमों के आधार पर आधारित हैं जिनका उल्लेख सम्पादक मुनिजी ने टिप्पण में किया है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि जैनधर्म सही अर्थों में मानवधर्म है। क्योंकि जैनधर्म की आधार शिला अनेकान्तवाद, आत्मवाद, कर्मवाद और अहिंसावाद हैं। जैनआगमों का यह अटल सिद्धान्त है कि प्रत्येक मानव कर्म करने में स्वतंत्र है

और अपने पुरुषार्थ से, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र के आचरण से वह अपने आपको नर से नारायण बना सकता है आत्मा से परमात्मा बना सकता है। मानव समानता की कितनी स्फूर्तिदायक प्रेरणा है यह, जिसमें ऊँच - नीच, गरीबी और अमीरी, का कोई भेद भाव नहीं है।

अतएव मेरी मान्यता है और मेरा अनुरोध भी—कि आज का मानव और विशेष रूप से हमारा नवयुवक समाज-प्रस्तुत रचना को ध्यानपूर्वक हृदयंगम करे और फिर हममें उसी के अनुरूप आचरण करने की क्षमता व सुबुद्धि प्रादुर्भूत हो तो हमारा जीवन निस्संदेह स्वार्थ, द्वेष और शोषण के अंधियारे से ऊपर उठकर परोपकार, सौन्दर्य और विश्व बन्धुत्व के पुनीत प्रकाश में जाज्वल्यमान हो सकता है—हम स्वयं भी सुखी और अपने सहजीवियों को भी सुखी बना सकते हैं।

इन्द्रनाथ मोदी
न्यायमूर्ति राजस्थान हाईकोर्ट,
जोधपुर.

मोदी निवास,
५ नवम्बर १९६२

चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी महड्ढिओ
सन्ती सन्ति करे लोए
पत्तो गइमणुत्तरं

× × ×

जो अपने को पहचान सके
मैं उसको ही कहता महान
विज्ञान तुम्हारे मिथ्या हैं
सच्चा है केवल आत्मज्ञान

× × ×

पशु बल कितना भी भीषण हो
किन्तु अन्त में होगी हार
देव, तुम्हारे सौम्य - भाव से
जग सीखेगा प्रेमाचार

आप क्या पढ़ रहे हैं ?

अध्यात्म साधना में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र[1] इन तीनों का गौरव पूर्ण स्थान है। दृष्टि की विशुद्धि से ही ज्ञान विशुद्ध होता है[2] और ज्ञान की विशुद्धि से ही चारित्र निर्मल होता है[3] अतः श्रमण संस्कृति के प्राण-प्रतिष्ठापक भगवान् श्री महावीर ने साधना के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग पर बढ़ने के पूर्व दृष्टि-विशुद्धि की प्रबल प्रेरणा प्रदान की[4]। साधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का प्रथम स्थान है, सम्यग्ज्ञान का द्वितीय और सम्यक् चारित्र का तृतीय है।[5]

सम्यग्दर्शन :

आत्मा को आत्म विस्मृति के गहन अन्धकार से निकालकर आत्म-भाव के आलोक से आलोकित करने वाली विवेक युक्त दृष्टि ही Truc Faith सम्यग्दर्शन है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो आत्म

---

1 तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तं जहा — णाण सम्मे, दंसण सम्मे,
चारित्त सम्मे — स्थानाङ्ग—३।४।११८

2 नादंसणिस्स नाणं — उत्तरा. २८।३०

3 नाणेण विना न हुंति चरण गुणा — उत्त. ।२८।३०

4 जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होई सव्वसो॥

सूत्रकृताङ्ग अ. ८।गा. २२

5 सम्मद्दंसणं पढमं, सम्मं नाणं बिइज्जियं।
तइयं च सम्मचारित्तं, एगभूयमिमं तिगं॥२॥

— महानिशीथ

विकास की दृष्टि से किया गया जीव, अजीव पुण्य, पाप आश्रव सम्वर निर्जरा वन्ध और मोक्ष आदि तत्त्वों[1] का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है[2]। श्रद्धा जीवन का सम्बल है। व्यावहारिक दृष्टि से "जिन" की वाणी में, "जिन" के उपदेश में जिसकी दृढ़ निष्ठा है[3], वही सम्यग्दर्शी है।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।[4] यदि मूल में भूल है, सम्यग्दर्शन का अभाव है, तो सभी क्रियाएं संसार का क्षय नहीं कर अभिवृद्धि करती हैं[5] सम्यग्दर्शी पाप का अनुबन्धन नहीं करता[6]। "जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह कर्म से बद्ध नहीं होता और जो सम्यग्दर्शन विहीन है वही संसार में परिभ्रमण करता है[7]। चारित्र से भ्रष्ट व्यक्ति का निर्वाण संभव है, पर सम्यग्दर्शन से चलित आत्मा का निर्वाण असंभव है[8]।

---

[1] स्थानांग सूत्र, स्था. ६ सूत्र,

[2] (क) तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ उत्त. २८।१५
(ख) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् — तत्वार्थ० १।२

[3] तमेव सच्चं नीसंकं
जं जिणेहिं पवेइयं — आचा. ५, १६३, उ. ५
णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे — भगवती. २।५

[4] दंसण मूलो धम्मो — दर्शन पाहुड

[5] नत्थि चरित्तं सम्मत विहूणं — उत्त. २८।२६

[6] सम्मत्त दंसी न करेइ पावं — आचारांग १।३।२

[7] सम्यक्दर्शन-सम्पन्नः, कर्मभिर्न निबद्धयते।
दर्शनेन विहीनस्तु, संसारं प्रतिपद्यते ॥ — मनुसंहिता—६।७४

[8] दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ — षट्प्राभृत

आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा गाई गई है। आनुधर्म कथा में इसे "रत्न" की उपाधि प्रदान की गई है, जिस साधक को इस "चिन्तामणि" दिव्य रत्न की समुपलब्धि हो जाती है वह भंगी भी देव है। तीर्थंकरों ने उसे देव माना है। राख में आच्छादित आग का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योतिपुञ्ज ही रहता है।[1]

सम्यग्दर्शी साधक आत्म अभ्युदय के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता है कभी भी परिश्रान्ति का अनुभव नहीं करता। वह यथार्थ द्रष्टा होता है। उनके अन्तर्मानस में सत्य की जगमगाती ज्योति निरन्तर जलती रहती है। वह देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु बन्ध नहीं करता[2] वह अवर्णनीय और अचिन्त्य आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है। एक आचार्य के शब्दों में सम्यक् दर्शन यथार्थ में बहुत सूक्ष्म है और वह वाणी से परे है।[3]

सम्यक्त्व, सच्चाई, हक़ीकत, रास्ती, ट्रूथ, ऋत, समत्व, योग, श्रद्धा आदि शब्दों को सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची या समानार्थी कह सकते हैं। प्रायः सभी दर्शनों ने, विचारकों ने सम्यग्दर्शन को अपनी दृष्टि से महत्व प्रदान किया है और उसे मुक्ति का मुख्य कारण माना है। समन्वयदृष्टि से चिन्तन करने पर सूर्य के उजाले की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होता है कि भाषा में अन्तर होने पर भी भाव एक ही है।

गीता ने "योग"[4] को सम्यग्दर्शन कहा है तो न्यायदर्शन[5] ने

---

[1] सम्यग्-दर्शन सम्पन्न-मपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ रत्न. श्रा. २८

[2] भगवती ३०।१

[3] सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्"

[4] समत्वं योग उच्यते — गीता—२।४८

[5] न्याय सूत्र ४।१।३०६

तत्वज्ञान को सांख्य दर्शन[1] ने भेद ज्ञान को सम्यग्दर्शन माना है तो योग दर्शन[2] ने विवेक ख्याति को। बौद्ध दर्शन ने क्षण भंगुरता और चार आर्य सत्यों का ज्ञान सम्यग्दर्शन स्वीकारा है तो वेदों ने ऋत को।

सम्यग्दर्शन जीवन की श्रेष्ठ कला है। आत्मा की अमर अभिव्यक्ति है। एतदर्थ ही जैन संस्कृति के इस मौलिक तत्त्व को सभी विचारकों ने अपने यहाँ स्थान दिया।

सम्यग्ज्ञान :

ज्ञान आत्मा का निज गुण है। ज्ञान के अभाव में आत्मा की कल्पना करना संभव नहीं। न्याय वैशेषिक दर्शन की तरह जैन दर्शन ने ज्ञान को आगन्तुक नहीं माना, किन्तु आत्मा का मौलिक-गुण माना है। ज्ञान आत्मा ही है एतदर्थ वह आत्मा से अभिन्न है[3]। जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है[4]। व्यवहार नय से ज्ञान और आत्मा में भेद है किन्तु निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।[5] अनन्त ज्ञानशक्ति आत्मा में स्वभाव से ही विद्यमान है किन्तु ज्ञानावरण कर्म से आच्छादित होने के कारण उसका पूर्ण प्रकाश प्रकट नहीं होने पा रहा है। ज्यों ज्यों आवरण हटता जाता है त्यों-त्यों ज्ञान प्रकाश भी बढ़ता जाता है, पर ऐसी आत्मा की अवस्था कभी नहीं होती कि उसमें किसी न किसी प्रकार का ज्ञान न हो[6] किन्तु सम्यग्दर्शन सहचरित न होने से वह ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

[1] सांख्य कारिका ६४।३
[2] योगदर्शन २।१३
[3] णाणे पुण णियमं आया — भगवती १२।१०
[4] जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया आचारांग–५।५।१६६
[5] समयसार–६।७ — आचार्य कुन्द
[6] सव्वजीवाणंपि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियो— नन्दी : सूत्र ४३

आत्मा क्या है ? कर्म क्या है ? बन्धन क्या है ? कर्म आत्मा पर क्यों चिपकते है ? आदि विषयों का यथार्थ रूप से परिज्ञान ही True Knowledge सम्यग्ज्ञान है और अयथार्थ बोध मिथ्याज्ञान है[1]। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो " प्रत्येक द्रव्य का उनकी अनन्तगुण पर्यायों सहित और अपने विशुद्ध आत्म स्वरूप का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है[2]।

ज्ञान तृतीय नेत्र के समान है जिसके अभाव में जीव शिव नहीं बन सकता, आत्मा भव बन्धनों से विमुक्त नहीं हो सकता। महान् विचारक शेक्सपियर के शब्दों में "ज्ञान वह पंख है जिससे हम स्वर्ग में उड़ते हैं" और कन्फ्यूशियस ने "ज्ञान को आनन्द प्रदाता" माना है। वस्तुतः सम्यग्ज्ञान ही सच्चे सुख का कारण है, जब तक सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक विकारों का विनाश होकर विचारों का विकास नहीं होता।

वैदिक दार्शनिकों ने भी सम्यग्ज्ञान को महत्त्व दिया है[3] और उसे "ब्रह्म विद्या" कहा है। "अध्यात्म विद्या ही समस्त विद्याओं की प्रतिष्ठा है[4], उन सब में प्रमुख है[5], उनको दीपक के समान आलोक

---

[1] द्रव्य संग्रह

[2] जं जह थक्कउ दव्वु जियतं तह जाणइ जोजि
अप्पह केरउभावडउ णाणु मुणिज्जहि सोजि।
— परमात्म प्रकाश, २।२९

[3] "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
— मुण्डकोपनिषद्

[4] ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् — मुण्डक-१।१।१

[5] सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः — मनुस्मृति, १२-८५

दिखाने वाली है[१], और उन्हें परिपूर्णता प्राप्त कराने वाली है। यही सर्वोत्कृष्ट धर्म है और ज्ञानों में श्रेष्ठ ज्ञान है[२] इस एक का परिज्ञान करने पर सभी का परिज्ञान हो जाता है[३]। इस आत्मविद्या के द्वारा राग-द्वेष की प्रहानि की जाती है[४] और यही सर्वोत्तम राजविद्या है[५]। न्याय दर्शन मिथ्याज्ञान, मोह आदि को संसार का मूल मानता है[६] और सांख्य दर्शन विपर्यय को[७]। बौद्ध दर्शन अविद्या रागद्वेष को संसार का प्रधान कारण स्वीकारता है[८]। जैन दृष्टि से साधना के क्षेत्र में सम्यग्ज्ञान का वही महत्त्व है जैसा सम्यग्दर्शन का है। ज्ञान प्रकाशक है[९], प्रथम ज्ञान है, फिर चारित्र है[१०]।

सम्यक् चारित्र :

आत्म स्वरूप में रमण करना और जिनेश्वर देवों के वचनों पर

---

१ प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्व धर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥
— कौटिलीय अर्थशास्त्र, १, ३

२. (क) "अयं तु परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्"
— याज्ञवल्क्य, १।१।८

(ख) आत्मज्ञानं परं ज्ञानम् — महाभारत शान्तिपर्व।

३ यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते। — गीता-७।२

४ आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात् सुखदुःखयोः।
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्ष शोकौ व्युदस्यति। —शुक्रनीति १।१५२

५ राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। — गीता ९।२

६ न्याय सूत्र, ४।१-३-६

७ सांख्य कारिका ६४।३

८ बुद्ध वचन

९ णाणं पयासयं — महानिशीथं-७

१० पढमं णाणं तओ दया॥ — दशवै.-४

पूर्ण आस्था रखते हुए अच्छी तरह उन्हीं के अनुरूप आचरण करना (True conduct) सम्यक् चारित्र है।

ज्ञान नेत्र है, चारित्र चरण है पथ का अवलोकन तो किया पर चरण उस ओर नहीं बढ़े तो अभीप्सित लक्ष्य की प्राप्ति असंभव है। स्त्रिनॉकने लिखा है "बिना चारित्र के ज्ञान शीशे की 'आँख की तरह है सिर्फ दिखलाने के लिए और एक दम उपयोगिता रहित"। ज्ञान का फल विरक्ति है[1]। ज्ञान होने पर भी यदि विषयों में अनुरक्ति बनी रही तो वह वास्तविक ज्ञान नहीं है।

सम्यक् चारित्र-जैन साधना का प्राण है। विभावगत आत्मा को पुनः शुद्ध स्वरूप में अधिष्ठित करने के लिए सत्य के परिज्ञान के साथ जागरूक भाव से सक्रिय रहना आचार-आराधना है। चारित्र एक ऐसा चमकता हीरा है जो हर किसी पत्थर को घिस सकता है। जीवन का लक्ष्य सुख नहीं चारित्र है[2] "उत्तम व्यक्ति शब्दों से सुस्त और चारित्र से चुस्त होता है[3]। बौद्ध साहित्य में सम्यक् चारित्र को ही सम्यक् व्यायाम कहा है।

समन्वय :

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र ये साधना के तीन अंग हैं अन्य दर्शन केवल एक अंग को ही प्रमुखता देते हैं किन्तु जैन दर्शन तीनों के समन्वय को। भगवान श्री महावीर ने चार प्रकार के पुरुष बतलाये हैं :—

एक शीलसम्पन्न है, श्रुतसम्पन्न नहीं। आराधक है

दूसरा श्रुतसम्पन्न है शीलसम्पन्न नहीं। विराधक है

---

[1] ज्ञानस्य फलं विरतिः

[2] बीचर,

[3] कन्फ्यूशियस

तीसरा शील सम्पन्न है, और श्रुतसम्पन्न है।
चौथा न शील सम्पन्न है और न श्रुतसम्पन्न है।

प्रथम मोक्षमार्ग का देश आराधक है[1] दूसरा देश विराधक है[2] तीसरा सर्व आराधक है[3] और चौथा सर्व विराधक है[4]।

इस चतुर्भङ्ग में भगवान् ने बताया कि कोरा शील कल्याण की एकांकी आराधना है। कोरा ज्ञान भी उसी प्रकार है। शील और ज्ञान दोनों ही नहीं है तो वह कल्याण की आराधना है ही नहीं। शील और ज्ञान दोनों की संगती है तो वह कल्याण की सर्वांगीण आराधना है[5]।

सम्यग्दर्शन की पूर्णता चतुर्थ गुणस्थान में भी हो सकती है, यदि कदाचित् वहाँ न हो तो बारहवें गुणस्थान की प्राप्ति के पूर्व तो अवश्य हो ही जाती है। सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें में और सम्यक् चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। ये जब तीनों पूर्ण होते हैं तभी साध्य की सिद्धि होती है। विद्या और चारित्र दोनों का पूर्ण समन्वय ही मोक्ष है[6]।

प्रस्तुत उपक्रम का महत्त्व

प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्यग्र प्रतिभा के धनी परम श्रद्धेय मंत्री पण्डित प्रवर सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि म० के पाण्डित्य पूर्ण प्रचचन हैं;

[1] भगवती ८।१०
[2] भगवती ८।१०
[3] भगवती ८।१०
[4] भगवती ८।१०
[5] भगवती ८।१०
[6] "आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं" सूत्रकृताङ्ग–१।१२।११

जो दिल को लुभाने वाले हैं, मनको मोहने वाले हैं। उगती उभरती पीढ़ियों की मानसिक पूर्णता के लिए अनमोल रसायन हैं। जीवन की निधि है। वाल्ट ह्विटमेन ने अपनी एक पुस्तक के विषय में कहा था कि "जो इस पुस्तक को छूता है वह एक मनुष्य का स्पर्श करता है" यह उक्ति प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में भी पूर्ण चरितार्थ होती है। इस पुस्तक में भी आपको वही आनन्द अनुभव होगा, जो एक सन्मित्र से मिलकर होता है।

इस प्रवचनों में न बुद्धि के गोरखधन्धे हैं, न मुखे ज्ञान के अम्बार हैं किन्तु सरल सरस हृदय के उद्गार हैं स्पष्ट प्रतिपादन है, गंभीर चिन्तन है मौलिक अध्ययन है। यह साफ सुथरी सीधी सड़क है, इसपर बिना भूले, बिना भटके, और बिना अटके चलिए कायर की भाँति थककर बैठिये नहीं, घबराइये नहीं किन्तु वीर की भाँति आगे बढ़िये, चरैवेति चरैवेति चले चलो, बढ़े चलो, क्योंकि चलने वाला मधुरता को प्राप्त करता है[१]।

आभार और कृतज्ञता

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन की सुखान्त और शुभान्त कहानी है। इसका प्रारंभ हुआ मरुधर धरा की राजधानी जोधपुर में, और पूर्ण हुआ ब्यावर में। प्रस्तुतसम्पादन में सम्पादन कला विशेषज्ञ व तेजस्वी और यशस्वी लेखक पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का सतत मार्ग दर्शन मुझे मिलता रहा है। पुस्तक में सम्पादन का जो कुछ भी सौष्ठव है वह मेरा नहीं अपितु पण्डितजी का है। सौजन्यमूर्ति पं० श्री हीरामुनिजी, साहित्य रत्न, शास्त्री श्री गणेशमुनिजी, व नवदीक्षित श्री चेतनमुनिजी का हार्दिक सहयोग भूलने जैसा नहीं है। प्रखर प्रतिभा सम्पन्न

---

[१] "चरन्वै मधु विन्दति"

सुश्रावक इन्द्रनाथजी मोदी न्यायमूर्ति की सतत सेवा विस्मरण नहीं की जा सकती। समय समय पर उनके बहुमूल्य अनुभव, चिन्तन और प्रबल प्रेरणा मुझे मिलती रही है। प्रान्त में परमादरणीय उपाध्याय प्रवर श्रद्धेय श्री हस्तीमलजी म० के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि का आद्योपान्त अवलोकन कर अनमोल सुझाव व अभिमत प्रदान किया। आशा है ये प्रवचन बहुजन हिताय बहुजन सुखाय प्रमाणित होंगे।

इन्द्र - भवन
घोड़ों का चौक,
७ नवम्बर १९६२

देवेन्द्र मुनि

प्रज्ञापना

प्रबुद्ध पाठक वर्ग के कर कमलों में प्रस्तुत-प्रशस्त प्रकाशन प्रदान करते हुए हृदय हर्ष से हर्षित हो रहा है, मन-मयूर नाच रहा है और जीवन के कण कण में, अणु-अणु में प्रफुल्लता अठखेलियाँ कर रही है।

परमश्रद्धेय मंत्री पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज को सम्पूर्ण जैन समाज बखूबी जानता है। वे आचार की उत्कृष्टता और विचारों की विराट्ता के कट्टर हिमायती हैं। जैन श्रमण होने के नाते जैनागमों के मर्मज्ञ अनुसंधाता तो हैं ही, साथ ही वैदिक तथा बौद्ध दर्शन के भी अच्छे ज्ञाता हैं। कुछ समय पूर्व प्रस्तुत संस्था की ओर से आप श्री के प्रभापूर्ण प्रवचनों का एक मौलिक संग्रह "जिन्दगी की मुस्कान" के नाम से प्रकाशित हुआ था जिसकी भारत के प्रसिद्ध दैनिक साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्र और पत्रिकाओं ने तथा प्रतिभा सम्पन्न मूर्धन्य मनीषियों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। यह लिखते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि गुर्जर प्रांतीय साहित्य सेवियों के सदाग्रह से उसका शानदार गुजराती संस्करण "लक्ष्मी पुस्तक भंडार, गांधी मार्ग, अहमदाबाद–१" ने प्रकाशित किया है।

प्रस्तुत साधना का राजमार्ग अध्यात्म प्रेमियों की प्रबल प्रेरणा का ही मूर्त रूप है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से पुस्तक बहुत ही सुन्दर और रोचक है। पुस्तक पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा कि मंत्री मुनि श्री का अध्ययन कितना विशाल है, चिन्तन कितना गहरा है। दार्शनिक विषय को सहज रसमय बनाने का उनका प्रयत्न बहुत ही अभिनन्दनीय है।

हम यहाँ प्रस्तुत पुस्तक के प्रधान सम्पादक देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री, साहित्य रत्न का स्मरण करना अपना कर्तव्य समझते हैं, जो मंत्री मुनि श्री के सुयोग्य शिष्य हैं, तेजस्वी लेखक हैं और कुशल सम्पादक हैं जिनके कारण यह ग्रन्थ हमें सम्प्राप्त हुआ और साथ ही पण्डित शोभाचन्द जी भारिल्ल को विस्मृत नहीं कर सकते, जो हमारे समाज के वरिष्ट सम्पादक और श्रेष्ट लेखक हैं जिन्होंने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार की और सम्पादन में मुनि श्री को महत्त्वपूर्ण योग दिया।

इस अवसर पर सुप्रसिद्ध न्यायमूर्ति, जैन समाज शृंगार श्री इन्द्रनाथजी मोदी के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने शासकीय कार्य में अत्यधिक व्यस्त होने के बावजूद भी पुस्तक प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था की। पुस्तक का जो भी नयनाभिराम रूप बना वह आपके ही श्रम का फल है। उसका मूल्य, आभार या धन्यवाद कैसे अंकित किया जा सकता है।

जिन श्रेष्ठीपुत्रों ने आर्थिक सहायता प्रदान कर हमें अनुगृहीत किया उनको धन्यवाद देने के साथ ग्रन्थ के प्रकाशन में विलम्ब होने के कारण उन्हें जो प्रतीक्षा करनी पड़ी और असुविधा हुई उसके लिये हम हृदय से क्षमा प्रार्थी हैं।

आशकरण भण्डारी
संयुक्त मंत्री
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल,
जोधपुर.

५-११-६२

साधना का राजमार्ग

मंत्री पुष्कर मुनि

कहाँ क्या है ?

सम्यग्दर्शन : एक अनुचिन्तन

सम्यग्ज्ञान : एक परिशीलन

सम्यक्चारित्र : एक परिचय रेखा

सम्यग्दर्शन : एक अनुचिन्तन

साधना का ध्येय

लक्ष्य बिन्दु-सुख

विराट विश्व में अनन्त प्राणी हैं—छोटे और मोटे, विकसित चेतना वाले और अविकसित चेतना वाले, जंगम और स्थावर। उनके जीवन-व्यापारों को सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो उन सब के मूल में एक ही उद्देश्य निहित प्रतीत होगा—सुख की प्राप्ति। प्राणीमात्र सुख की संप्राप्ति के स्पृहणीय ध्येय को समक्ष रखकर ही सतत प्रवृत्तिशील है। यही वह वृत्ति है जो जीवमात्र को संचालित, आन्दोलित और प्रवृत्ति परायण बनाये रहती है। विविध प्रकार की जो प्रवृत्तियां हम देखते हैं, वे सब इसी वृत्ति का पोषण करने के लिए है। उनका कोई पृथक् उद्देश्य नहीं है। किन्तु सुख क्या है? इस तथ्य पर कितने लोग विचार करते हैं? अमनस्क प्राणियों की बात छोड़िए। उनमें विकसित मन नहीं है, उनकी चेतना इतनी गतिशील नहीं है कि वे इस प्रश्न पर विचार कर सकें। मनुष्य इस सृष्टि का शृंगार कहलाता है, सम्राट् माना जाता है, उसकी आलोकमयी चेतना की प्रखर किरणें सृष्टि के कोने-कोने में फैलती हैं। फिर भी कितने मनुष्य हैं जो गंभीर भाव से इस मूलभूत प्रश्न पर विचार करते हों?

सुख और आत्मा

अनन्त सुख आत्मा का एक स्वभावसिद्ध सहज गुण है। जैसे ज्ञान, दर्शन और वीर्य आत्मा के असाधारण गुण हैं, उसी प्रकार सुख भी। यह गुण असाधारण इस कारण है कि आत्मा के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य में इसकी सत्ता नहीं है।

आत्मा में अनन्त-अपरिमित सुख गुण विद्यमान है। आत्मा निसर्गतः अनन्त आनन्द का धनी है। उसे प्राप्त करने के लिए किसी भी भौतिक साधन की आवश्यकता नहीं है। सुख के अभाव में आत्मा का और आत्मा के अभाव में सुख का अस्तित्व कल्पना से भी अतीत है। गुण और गुणी में अविनाभाव संबंध है।

हम जानते हैं, भारतीय दर्शनों में कतिपय ऐसे भी हैं जो द्रव्य और गुण की पृथक् सत्ता को अंगीकार करते हैं, मगर साथ ही वे दोनों का नित्य सम्बन्ध भी, जो समवाय कहलाता है, स्वीकार करते हैं। यह मान्यता भले द्राविड़ प्राणायाम जैसी हो, तथापि इसका फलितार्थ तो यही है कि द्रव्य और गुण सदा काल साथ ही रहते हैं—एक को छोड़ कर दूसरा नहीं रह सकता। यद्यपि यह मान्यता तर्क की कसौटी पर सही सिद्ध नहीं होती और इसकी छाया में मुक्ति का स्वरूप विकृत हो जाता है, तथापि इस दृष्टि से यहां विचार करना प्रस्तुत नहीं है।

ज्ञान और आनन्द

कुछ मनीषियों की धारणा है कि प्राणियों की सतत प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य सुख नहीं, ज्ञान है। व्यक्त या अव्यक्त रूप में ज्ञान की उपलब्धि के लिए ही मानव तथा मानवेतर प्राणी

प्रवृत्तिशील रहते हैं। परन्तु ज्ञान[1] स्वयं साध्य नहीं, साधन है। ज्ञान प्रकाश देता है प्रेरणा देता है किन्तु तृप्ति प्रदान नहीं कर सकता। ज्ञान संवेदन हो सकता है, मगर उस संवेदन में से झरने वाला रस तो आनन्द ही है। ज्ञान कई बार मनुष्य को व्याकुल बना कर छोड़ देता है। उस व्याकुलता की निवृत्ति ज्ञेय पदार्थ के यथोचित सेवन से उपलब्ध होने वाली रसानुभूति से ही होती है। ज्ञान में सन्तुष्टि नहीं, सन्तुष्टि रसानुभूति में है। रसानुभूति द्वारा मन कृतार्थता अनुभव करता है।

'रस' का कोई एक नियत मापदण्ड नहीं है। जिस वस्तु में एक को रसानुभव होता है, उसी को दूसरा नीरस समझ कर छोड़ देता है। इस विभिन्नता के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें योग्यता एवं रुचि के स्तर की विचित्रता भी एक प्रधान कारण है।

कुछ भी हो, यह असंदिग्ध है कि जीवनधारी मात्र की प्रवृत्ति का परम एवं चरम लक्ष्य-बिन्दु सुख है और वह आत्मा की अपनी वस्तु है।

सुख की अभिव्यक्ति

प्रश्न किया जा सकता है—यदि सुख आत्मा की ही सम्पत्ति है तो वह सदैव स्वतः प्राप्त रहना चाहिए। उसके लिये जीवनव्यापी संघर्ष की क्यों आवश्यकता होती है?

उत्तर है—जैसे आत्मिक ज्ञान अनन्त-असीम होने पर भी आवरण आ जाने के कारण विकृत और सीमित हो रहा है

[1] केवल ज्ञान साध्य है, और मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय ये चार ज्ञान साधन हैं।

उसी प्रकार स्वाभाविक सुख-सम्पत्ति का भी आत्मा में अनन्त, असीम और अक्षय कोष है परन्तु आवरण के कारण उसमें विकृति आ गई है। वह अल्प मात्रा में ही अनुभव में आ रहा है। ज्यों ज्यों आवरण क्षीण होते जाते हैं, सुख की मात्रा वृद्धिगत होती जाती है, उसका रूप भी निखरता चला जाता है। पूर्ण निरावरण दशा में सुख, ज्ञान की ही भांति, अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में अभिव्यक्त हो उठता है। इस सत्य को इतर दार्शनिकों ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

आनन्द ब्रह्मणो रूपं,
तच्च मोक्षऽभिव्यज्यते।

आनन्द (सुख) आत्मा का स्वरूप है और वह मोक्ष-अनावरण अवस्था में अपने असली स्वाभाविक रूप में प्रकट होता है।

भौतिक और आध्यात्मिक सुख

सुख वस्तुतः एक है किन्तु अवस्था भेद से उसके दो रूप बन जाते हैं—विकृत और अविकृत सुख। भारत के आध्यात्मवेत्ता महान् मनीषियों ने सुख के खजाने को दो भागों में विभक्त किया है—एक भौतिक सुख और दूसरा आध्यात्मिक सुख। यह विभाग आत्मिक विकृति और अविकृति के आधार पर अवस्थाभेदकृत ही है।

आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ मनुष्य विशुद्ध आत्मानन्द की अनुभूति करने में अक्षम होता है; साथ ही नैसर्गिक होने के कारण सुख किसी भी स्थिति में पूर्ण रूप से नष्ट भी नहीं होता—दब भी नहीं सकता। तब वह विकृत रूप में अपनी सत्ता को सार्थक

बनाता है। वह मन और इन्द्रियों के द्वारों से उद्भासित होता है। परपदार्थ उसके माध्यम बनते हैं। ऐसा सुख साधारणतया भौतिक सुख कहलाता है, जिसे परमार्थवेत्ता 'सुखाभास' की सार्थक संज्ञा प्रदान करते हैं।

भौतिक सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अधिकाधिक बाह्य वस्तुओं पर निर्भर होना पड़ता है। श्रोत्र और नेत्र की तृप्ति के लिए नृत्य, गायन, नाटक, सिनेमा देखना-सुनना; घ्राणेन्द्रिय की प्यास बुझाने के लिए सौरभ सम्पन्न सुमन-उद्यान में विचरण करना, रसनेन्द्रिय को तृप्त करने के लिए भांति भांति के भोज्य और पेय पदार्थों को जुटाना तथा स्पर्शेन्द्रिय की आराधना के लिए अनेक प्रकार की सामग्री जुटाना होता है।

आध्यात्मिक सुख पर-निरपेक्ष होता है। साधक जब साधना के अनेक सोपान पार कर चुकने के पश्चात् विशुद्ध आत्मानुभूति, आत्मरमण, करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तभी उस सुख का समास्वादन किया जा सकता है। जितनी-जितनी आत्मनिष्ठा, आत्मानुभूति या आत्मसाधना बढ़ती जाती है, आध्यात्मिक सुख की मात्रा भी बढ़ती चली जाती है। जगत् में रहता हुआ भी साधक जब जागतिक प्रपंचों से विलग होकर अपने को सर्वथा अलिप्त बना लेता है, तब आध्यात्मिक आनन्द के परम पीयूष के प्रशान्त निर्झर का अखण्ड स्रोत उसकी आत्मा में प्रवाहित होने लगता है।

इस प्रकार एक सुख बाह्य है, दूसरा आन्तरिक है, एक अस्थायी है, दूसरा स्थायी है, एक बुझने वाला है, दूसरा चमकने वाला है, एक पराश्रित है, दूसरा स्वाश्रित है; एक काल और परिस्थिति से सीमित है, दूसरा सीमातीत है, एक की समाप्ति घोर दुःख के रूप में होती है, तो दूसरे की असीम सुख के रूप

में होती है। एक सन्ध्या की लालिमा के समान है, जिसके पीछे वेदना विकलता और विविध व्याधियों की काली निशा मंडरा रही है, दूसरा उषाकालीन लालिमा है, जिसके पीछे सहस्त्ररश्मि सूर्य की चिलचिलाती धूप चमक रही है। एक अतृप्ति के गंभीर गर्त में गिराता है तो दूसरा कृतकृत्यता प्रदान करता है। एक क्षणिक, दूसरा शाश्वत् है। अतएव एक हलाहल के समान हेय है तो दूसरा पीयूष के सदृश उपादेय है।

यही कारण है कि भारतीय प्राज्ञ पुरुषों ने भौतिक सुख को महत्त्व न देकर-जीवन का साध्य न मान कर, आध्यात्मिक सुख को ही महत्त्व दिया है। उनकी गंभीर गर्जना आज भी गगनमंडल में गूंज रही है कि आध्यात्मिक सुख ही सच्चा सुख है और भौतिक सुख सुखाभास है, मृगतृष्णा है और इसके पीछे अनन्त वेदनाओं का अजस्त्र प्रवाहित होने वाला स्रोत छिपा है।

स्पष्ट है कि जो सुख अन्त में दुःख की प्रचण्ड ज्वालाओं में झौंक देता है, वह किसी प्रज्ञावान एवं दीर्घदर्शी पुरुष की साधना का लक्ष्य नहीं हो सकता। हमारी साधना का केन्द्रबिन्दु तो वही सुख हो सकता है, जिसमें दुःख के गरल का सम्मिश्रण न हो, जिसकी परिणति दुःखमय न हो, जो आत्मा को सदा के लिए परितृप्त एवं कृतार्थ कर सके। प्रश्न यह है कि इस प्रकार का सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

एक कवि की वाणी स्मरण आती है :-
आतम कौ हित है सुख सो सुख,
आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिवमाहि न तातें,
शिवमग लाग्यौ चहिए।

अर्थात् सुख आत्मा के लिए हितकारी है और वह सुख निराकुल अवस्था में ही प्राप्त किया जा सकता है। पूर्ण-रूपेण आकुलता का अभाव मोक्ष में ही हो सकता है। जब तक पर-पदार्थों के साथ हमारा सम्पर्क है, उनके द्वारा हम सुखानुभूति की कल्पना करते हैं, तब तक निराकुलता की कल्पना नहीं की जा सकती। पर-पदार्थों का संयोग अशाश्वत ही होता है वे मिलते हैं तो बिछुड़ते भी हैं। मिलने पर हमें हर्ष का और बिछुड़ने पर विषाद का अनुभव होता है। यही आकुलता है। इसका अन्त तभी आ सकता है जब उन पदार्थों से मानसिक मुक्ति मिल जाए। इस प्रकार सच्चे सुख की उपलब्धि मुक्ति में ही है। अतएव विवेकवान पुरुष के लिए यही श्रेयस्कर है कि वह मुक्ति के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करे। अब यह देखना है कि मुक्ति का मार्ग क्या है?

मुक्ति मार्ग

मुक्ति

जीवनतत्त्व के महान् व्याख्याकारों ने मानव व्यापारों का सूक्ष्म विश्लेपण करके चार पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चार पुरुषार्थों में धर्म और अर्थ साधन तथा काम और मोक्ष साध्य हैं। धर्म मुक्ति का साधन है, एवं मुक्ति परम पुरुषार्थ है।

विशुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही मोक्ष है जैसे खान में स्थित स्वर्ण बाह्य एवं आन्तरिक मल से युक्त होने के कारण अपनी वास्तविक चमक-दमक से विरहित और इसी कारण मलीमस होता है, उसी प्रकार आत्मा जब तक संसारावस्था में है, अनेकविध आवरणों से आवेष्टित होने के कारण अपने सहज स्वरूप में व्यक्त नहीं होता। उसके ज्ञान दर्शन, सुख, एवं वीर्य आदि गुण विकृत, मलिन और अपूर्ण रहते हैं। इन गुणों का पूरी तरह निखर जाना ही मोक्ष है। ज्यों ज्यों कषाय का कालुष्य और अज्ञान का अंधकार निवृत होता जाता है त्यों त्यों आत्मिक स्वरूप में उज्ज्वलता आती जाती है। उस उज्ज्वलता का परम प्रकर्ष ही निश्रेयस या मोक्ष है।

ज्ञान और आचार

इस प्रकार आत्मा की विकृति के मुख्य दो कारण हैं:—अज्ञान और कषाय। इनका समूल उन्मूलन करने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अपेक्षित हैं। "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" यह जैनाचार्यों का सुस्पष्ट विधान है।

दशवैकालिक सूत्र में मोक्ष लाभ का क्रम बहुत सुन्दरता से प्रदर्शित किया गया है। वहां कहा है:—

"पढमं णाणं तओ दया" अ. ४

प्रथम ज्ञान और फिर चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है; क्योंकि अज्ञानी जीव बेचारा क्या कर सकता है। उसे तो श्रेयस्-अश्रेयस् का विवेक ही नहीं होता। जो श्रेयस्-अश्रेयस् को श्रवण करता है, वही उनको जान पाता है।

जो साधक जीव और अजीव का विवेक प्राप्त करता है, वही जीवों की विविध प्रकार की गति-स्थिति-अवस्था आदि को जानता है और तभी उसे उनके कारणभूत पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष का परिज्ञान होता है।

पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष का परिज्ञान साधक के चित्त में दिव्य एवं मानवीय भोगों के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न करता है।

विरक्ति का बल पाकर वह बाह्य एवं आन्तरिक संयोग के पाश से अपने को पृथक कर लेता है और अनगारवृत्ति अंगीकार करता है।

अनगार वृति अँगीकार करने के अनन्तर उसके समक्ष प्रधान रूप से दो कर्त्तव्य उपस्थित होते हैं — नवीन कर्मो का आश्रव-वँध न होने देना और पूर्व बद्ध कर्मो को अनुक्रम से क्षीण करते जाना।

इस प्रकार अज्ञान और अनाचार से बद्ध होने वाले कर्म जव ज्ञान और संयमाचार के द्वारा निरुद्ध हो जाते हैं और तपश्चरण की जाज्वल्यमान ज्वालाओं से पुरातन घाती कर्मो को दग्ध कर दिया जाता है, तव सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन के प्रखरतर आलोक से आत्मा का कण-कण उद्-भासित हो उठता है। साधक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी की स्पृहणीय स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्थिति प्राप्त कर लेने पर आत्मा जीवन्मुक्त वन जाता है। उसे अपरनिःश्रेयस का लाभ होता है। फिर भी परनि.श्रेयससिद्ध अवस्था तो प्राप्य ही रह जाती है।

कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् सर्वज्ञ भगवान् योगनिरोध की चरम[1] क्रिया करते हैं, जिसे आगमिक परिभापा में शैलेशीकरण कहते हैं। इस करण के द्वारा मानसिक, वाचिक और कायिक सूक्ष्मतम स्पन्दनों का भी निरोध हो जाता है और फलस्वरूप शेष समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। यही परमनिःश्रेयस है, यही मुक्ति की उपलब्धि है, यही सिद्धि है और यही साधक की उग्रतर साधना की विश्रान्ति है[2]

---

[1] यह क्रिया जीवन के अन्तिम क्षण में होती है।

[2] दशवैकालिक, अ० ४

इस प्रकार ज्ञान और तदनुसारिणी क्रिया के समन्वय से ही मुक्तिमार्ग की साधना सम्पन्न होती है।

ज्ञान-क्रिया का समन्वय

भारतीय दार्शनिकों में कुछ ऐसे भी हैं जो क्रियानिरपेक्ष ज्ञान से ही मोक्षलाभ का प्रतिपादन करते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो ज्ञानहीन क्रियामात्र से। परन्तु जैनदर्शन इन दोनों एकान्तवादों का निषेध करके ज्ञान और क्रिया-दोनों को मुक्ति के लिए अनिवार्य स्वीकार करता है। उसका सदैव यह निर्घोष रहा है :-

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया।

क्रिया के बिना ज्ञान निष्फल है। जैसे रुग्ण व्यक्ति रोग के लक्षण, निदान और प्रतिकार के उपाय को जान कर भी जब तक औषध सेवन नहीं करता, आरोग्यलाभ नहीं कर सकता। इसी प्रकार रोग के लक्षण, निदान और प्रतिकार के उपाय को बिना जाने अंटसंट औषध को उदरस्थ कर जाने वाला व्यक्ति भी नीरोगता प्राप्त नहीं कर सकता। यही नहीं, ऐसा करके कदाचित् वह अपने रोग की वृद्धि भी कर लेता है।

जन्मान्ध के समान अज्ञानी पुरुष आध्यात्मिक साधना के विषम पथ पर सहीसलामत अग्रसर नहीं हो सकता और यदि वह अग्रसर होने का साहस करे तो या तो ठोकर खाकर गिर जाएगा या पथभ्रष्ट हो जाएगा। कोरे ज्ञान में पथ-प्रदर्शन का सामर्थ्य हो सकता है, परन्तु उसमें गति-प्रगति नहीं; परिदृष्ट पथ पर पाँव बढ़ाने की क्षमता नहीं। ज्ञान प्रेरणा दे सकता है, परन्तु प्रगति के अभाव में लक्ष्य तक

पहुँचना तो असम्भव है। अतएव जिस प्रकार ज्ञानहीन क्रिया कार्यसाधक नहीं, उसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञान भी निष्फल है। समीचीन ज्ञान के आलोक में की जाने वाली समीचीन क्रिया ही साधना को सफल बना सकती है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व

ज्ञान और क्रिया में समीचीनता किस प्रकार आती है? यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सामान्य ज्ञान और सामान्य क्रिया तरतमरूप से प्राणीमात्र में विद्यमान रहती है, किन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं होती। इन दोनों में समीचीनता - सम्यक्त्व- उत्पन्न करने वाला सम्यग्दर्शन है। आचार्यप्रवर उमास्वाति कहते हैं —

सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष की परिपूर्ण सामग्री है। जिस आत्मा में इन तीनों का सुमेल होता है वही मोक्ष साधना का सुपात्र बनता है।

साधना का प्रथम सोपान

ज्ञान आत्मा का नैसर्गिक गुण है। नैसर्गिक गुण की एक विशिष्टता यह होती है कि गाढ़ से गाढ़ आवरण होने पर भी वह समूल नष्ट नहीं हो सकता। अतएव ज्ञान प्रत्येक आत्मा में सदैव रहता है, मगर जब तक सम्यग्दर्शन का आविर्भाव नहीं होता, वह मिथ्या ज्ञान ही बना रहता है मिथ्याज्ञान के साथ की जाने वाली क्रिया भी मिथ्याक्रिया या मिथ्याचारित्र ही है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन मोक्ष - महल

का प्रथम सोपान है। उसके विना मोक्ष की आराधना का प्रारम्भ ही संभव नहीं है।

हाँ, तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेना ही मुमुक्षु के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वात है। जब तक मिथ्यात्व का अन्त नहीं आता, सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, और जब सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, मुक्तिमार्ग का प्रारम्भ नहीं हो सकता।

तात्त्विक दृष्टि का उन्मेष

सम्यग्दर्शन ही आध्यात्मिक सुख का मूल स्रोत है। वह आत्मा की अनमोल निधि है। इस निधि को प्राप्त कर आत्मा परभाव से विमुख होकर स्वभाव की ओर उन्मुख होती है। पिपासा से व्याकुल, भ्रान्त हिरण जैसे मृगतृष्णा में जल की कल्पना करके भागता और व्यर्थ परेशान होता है, उसी प्रकार शान्ति और सुख की प्राप्ति के लिए धन जन आदि पर सावन जुटाने के लिए पचने वाला पुरूष भी अन्त में निराश होता है, यह दृष्टि सम्यग्दर्शन का ही पावन वरदान है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर मनुष्य के दिव्य नेत्र खुल जाते हैं और उसे अपने ही अन्दर अनन्त, अव्यावाध, अक्षय एवं अजस्र प्रवाहित होने वाले आनन्द का स्रोत दृष्टिगोचर होने लगता है। सुख की असीम समृद्धि उसे अपने आप में ही अनुभूत होने लगती है। तभी वह अपनी अनादि विमूढ़ता को समझने लगता हैं और सोचता है- ओह! कव से मैं भ्रम ही भ्रम में पड़ा रहा; मैं दुःख के साधनों को सुख का साधन समझ कर अपनाता रहा और परिणाम स्वरूप दुःख का भागी होता रहा ; जहाँ सुख

था, वहाँ दृष्टि तक न डाली; दुनिया की खाक छानता रहा और अपना आपा कभी खोजा नहीं।

परभाव में सुख मानने की मूढ़ता का अन्त आने पर ही दृष्टि आत्मोन्मुख बनती है। यहीं से साधक का पथ पलटता है। दिशा बदलती है। जीवन ऊर्ध्वमुखी बनना प्रारंभ होता है। समग्र विश्व जैसे आत्मा में विलीन हो जाता है।

दृष्टि बदल जाने पर सारी सृष्टि ही बदल जाती है। सम्यग्दृष्टि का लाभ होते ही भ्रम का निविड अन्धकार दूर हो जाता है और आत्मा एक अपूर्व, अनुपम, अद्भुत और अलौकिक आलोकपुंज से आलोकित हो उठती है। आत्मा में ही पारमात्मिक गुणसमृद्धि देख लेने पर समग्र संसार उसे निस्सार प्रतीत होने लगता है। उसे भास होता है— मेरी आत्मा स्वतन्त्र है, शाश्वत् है, अनन्त चेतना और आनन्द से परिपूर्ण है। यह देह नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, मन नहीं है, इन सबसे अतीत सच्चिदानन्द है। रागादिभाव आत्मा के निज स्वरूप नहीं, निमित्तजनित है, पर हैं;—

> ऐगो मे सासओ अप्पा
>
> णाण - दंसण - लक्खणो।
>
> सेसा मे बाहिर भावा,
>
> सव्वे संजोग लक्खणा।

— संथार पइन्ना

साधना की नींव

इस प्रकार सम्यग्दर्शन ही समग्र साधना का मूल आधार है। वही साधना का प्राण है। वही सर्वस्व है। वह है तो साधना के अन्यान्य अंग जुट ही जाएंगे, आज नहीं तो कल। वह नहीं है तो उनका जुटना निरर्थक है।

दर्शनशास्त्र में प्रखर पाण्डित्य प्राप्त कर लिया, न्यायशास्त्र का अगाध बोध प्राप्त हो गया, व्याकरण पढ़ कर शब्दों की बाल की खाल उतारने लगे, काव्य, छंद और अलंकार शास्त्र पढ़कर कल्पना के पंखों पर सवार होकर लम्बी उड़ानें भरने लगे, विज्ञान का गहरा अध्ययन करके आकाश-पाताल एक करने की सोचने लगे, प्रभावशाली प्रवचन करके श्रोताओं को हँसाया, रुलाया चित्रलिखित सा कर दिया त्यागी-वैरागी का वेष धारण करके तीव्र तपश्चरण किया, काया को कृश किया, क्लेश दिया, परन्तु यह सब किस काम का है? यदि सम्यग्दर्शन न पाया। अंक के अभाव में शत नहीं सहस्र शून्य भी अन्ततः शून्य के ही व्यंजक हैं, निरर्थक हैं।

रुग्ण मनुष्य को पौष्टिक और स्वादिष्ठ भोजन भी लाभदायक नहीं होता। वह उसे पचा नहीं सकता। अमृततुल्य भोजन भी उसके लिए गरल है। पथ्यकारी न होकर अपथ्यकारी है। इसी प्रकार दृष्टि शुद्धि न होने पर ज्ञान भी बालक के हाथ की तलवार है।

अध्यात्मतत्त्ववेत्ता इस प्रकार के ज्ञान को समीचीन ज्ञान नहीं मानते। उनका निर्णय स्पष्ट है -

नादंसणिस्स नाणं

जिसको यथार्थ तत्वबोध नहीं हुआ, जिसने स्व-पर का भेद विज्ञान नहीं प्राप्त किया, अपने आपको नहीं पहचाना, जिसका लक्ष्य सही निर्धारित नहीं हुआ, उसकी जानकारी, सच्ची जानकारी नहीं। उसका ज्ञान मिथ्या है। मिथ्याज्ञान बन्धन से मुक्ति नहीं दिला सकता।

दर्शन और ज्ञान

इसके विपरीत जिस ज्ञानालोक के प्रकाश में 'स्व' का अवलोकन किया जाता है, 'स्व' में ही रमण किया जाता है, जो स्व-संबंधी भ्रान्ति एवं मूढ़ता का निरास करता है, जिससे शुद्ध आत्मोपलब्धि की पूत प्रेरणा प्राप्त होती है, जो निगूढ़ कषाय ग्रन्थि का विभेदन करके स्वस्वरूप को उद्भासित कर देता है, जो विषय - कषाय के प्रति हेयभाव को उत्पन्न करता है और जो अनासक्ति को जागृत कर देता है, वही समीचीन ज्ञान है और ऐसा ज्ञान सम्यग्दर्शन के बिना उद्भूत नहीं होता।

दर्शन और चारित्र

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग् ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्यग् ज्ञान के अभाव में सम्यक् चारित्र सम्भव नहीं है। ज्ञान के अभाव में की जाने वाली क्रिया अन्धी है, क्योंकि उसमें विवेक और विचार का प्रकाश नहीं होता। वह लक्ष्ययुक्त नहीं होती। ऐसी क्रिया भव भ्रमण घटाने के बदले बढ़ा देती है।

कोई मिथ्यादृष्टि साधक धन्य (धन्ना) अनगार की तरह उग्रतर तपश्चरण करके शरीर को शुष्क बना सकता है, मगर

उनकी भांति कर्मों को निर्जरा नहीं कर सकता। उसकी कठोर साधना से शरीर जर्जरित हो सकता है, किन्तु कर्म जर्जरित नहीं हो सकते। जैन धर्म का यह वज्रनिर्घोष रहा है कि अज्ञानी मनुष्य कोटि-कोटि वर्षों तक कठिन काय क्लेश सहन करके जितने कर्मों का क्षय कर पाता है, ज्ञानी एक उच्छ्वास जितने स्वल्पकाल में ही उतने कर्मों का क्षय कर डालता है—

जं अन्नाणी कम्मं,
खवेइ बहुयाहिं वास कोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो,
खवेइ ऊसास मित्तेण।

महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक गा. १०१

जैनधर्म क्रिया को ज्ञान के गज से नापता है और ज्ञान को सम्यग्दर्शन के गज से।

आपके पास सोडा है, साबुन है, अरीठा है, किन्तु जल नहीं है, तो क्या वस्त्र धुल सकेगा? वह स्वच्छ हो जायगा? कदापि नहीं। हां, जल हो और सोडा-साबुन न हो तो मल-मल कर मलमल को कदाचित् साफ किया जा सकता है। जैसा चाहिए वैसा स्वच्छ चाहे न हो, तो भी कुछ न कुछ तो होगा ही। सम्यग्दर्शन जल के समान है तो क्रिया सोडा-साबुन के समान। सम्यग्दर्शन रूपी विमल सलिल के अभाव में क्रिया का सोडा-साबुन मुक्तिमार्ग में अनुपयोगी है।

एक हजार रुपये के नोट का कागज है और दूसरा उतना ही लम्बा-चौड़ा सादा कागज का टुकड़ा है। कागज की दृष्टि से दोनों में क्या अन्तर है? फिर भी दोनों के मूल्य में बहुत बड़ा अन्तर है। इसका कारण यही है कि एक पर सरकार की मोहर है और दूसरे पर

नहीं है। इसी प्रकार जिस ज्ञान और क्रिया पर सम्यग्दर्शन की छाप है, उसी का मूल्य है। जिस पर सम्यग्दर्शन की छाप नहीं, उसका कुछ भी मूल्य नहीं।

सहस्त्रों वर्षों तक मोती समुद्र में निमग्न रहता है, किन्तु गलता नहीं! वही मोती, कहते हैं, हंस के मुख में जाते ही क्षण भर में, गल कर पानी बन जाता है। कर्म-मोती भी सम्यग्दृष्टि के चारित्र का सम्पर्क होते ही गलित हो जाते हैं—विनष्ट हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन का चमत्कार

सम्यग्दर्शन वास्तव में एक अलौकिक ज्योति है। उसका चामत्कारिक प्रभाव हमारी कल्पना से परे और मति से अगोचर है। उसकी अद्भुत क्षमता का विचार चित्त में विस्मय उत्पन्न कर देता है। जो जीव अनन्त अतीत में मिथ्यात्व के प्रगाढ़ बन्धनों में आवद्ध रहा है, वह यदि किसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त जितने काल के लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करले, तो भी उसके भवभ्रमण की एक काल सीमा निश्चित हो जाती है। उस सीमा के भीतर-भीतर ही उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि सम्यग्दर्शन कुछ मिनटों तक ही अस्तित्व में रहा और फिर गायब हो गया, तथापि स्वल्प काल में ही वह आत्मा में ऐसी कोई विशिष्टता पैदा कर गया कि वह आत्मा मोक्ष का अधिकारी बन गया और उसका भवभ्रमण अनन्त न रहकर शान्त हो गया। सम्यग्दर्शन की यह अद्भुत क्षमता है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रकट करते हुए आचार्य यथार्थ ही कहते हैं—'दंसणमूलो धम्मो'। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। मूल के अभाव में वृक्ष टिक नहीं सकता। सम्यग्दर्शन के अभाव में धर्म नहीं टिकता।

ज्ञातपुत्र भगवान् श्री महावीर की इस भविष्य वाणी से कौन जैन अनभिज्ञ होगा कि सम्राट् श्रेणिक आगामी उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर

का महामहिम पद प्राप्त करेंगे ? प्रश्न यह है कि किस योग्यता के बल पर उन्होंने इस प्रकृष्टतम पुण्य प्रकृति का वन्ध किया ?

न सेणिश्रो श्रासि तया वहुस्सुश्रो,
न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो।
सो श्रागमिस्साइ जिणो भविस्सइ,
समिक्ख पन्नाइ वरं खु दंसणं॥

जिस समय श्रेणिक ने तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध किया, उस समय उनमें कौन-सी विशेषता थी ? न वह वहुश्रुत विद्वान् थे, न प्रज्ञप्ति जैसे श्रागम के वेत्ता थे, श्रौर न उनको 'वाचक' पदवी ही प्राप्त थी। फिर भी वह श्रागामी काल में तीर्थंकर होंगे। यह किसका पुण्य-प्रताप है ? यह केवल सम्यग्दर्शन का ही श्रपूर्व चमत्कार है। यह घटना स्पष्ट ही इंगित करती है कि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का कितना उच्च स्थान है।

सम्यग्दर्शन का उदय होने पर चेतना में ऐसी विशिष्ट उज्ज्वलता श्रा जाती है, जो मिथ्यादृष्टि को कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। इस कारण जिनागम के एक विद्वान् को कहना पड़ा—"जिसका अन्तरतर सम्यग्दर्शन के श्रालोक से प्रकाशित हो गया है, वह पशु भी मनुष्य के सदृश हो जाता है श्रौर जिसकी श्रात्मा मिथ्यात्व के कारण विवेकविकल है, वह मनुष्य भी पशु के समान है।"

स्पष्ट है कि हमारी समग्र श्रध्यात्म साधना का मूलाधार सम्यग्दर्शन ही है। यही वह भूमिका है जिस पर साधना का सुमनोरम सौध निर्मित किया जा सकता है।

साधना का सर्वोच्च वरदान

जिन्हें नेत्र प्राप्त हैं, वे सभी प्राणी देखते हैं। किन्तु सबका देखना शुद्ध देखना नहीं होता। यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि नेत्रों पर जिस रंग का चश्मा लगा लिया जाता है, दृश्य पदार्थ उसी रंग के दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यद्यपि रंगीन चश्मा लगा लेने से पदार्थों का रंग-रूप बदल नहीं जाता, वे अपने ही रंग-रूप में रहते हैं, फिर भी चश्मे के निमित्त से उस रूप में दिखाई देते हैं। इसे बाह्य दृष्टि से विपर्यास कह सकते हैं।

दृष्टि विविधता

इसी प्रकार आन्तरिक दृष्टिविपर्यास होता है। आत्मा की दृष्टि शक्ति के सामने सघन राग-द्वेष का चश्मा जब तक चढ़ा रहता है, तब तक बाह्य चश्मा न होने पर भी आत्मा शुद्ध स्वरूप में पदार्थों का अवलोकन नहीं कर सकता। जब इन्द्रियाँ किसी वस्तु का अनुभव करती हैं और मन चिन्तन करता है, तभी जीव की राग-द्वेष रूप परिणति उस अनुभव और चिन्तन में अपना रंग घोल देती है। परिणाम यह होता है कि हमें उस रंग के अनुरूप ही दृश्य दिखाई देने लगते हैं और हम शुद्ध स्वरूप को नहीं देख पाते। 'यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः' मनुष्य की जैसी दृष्टि बन जाती है, वैसी ही उसे सारी सृष्टि नजर आने लगती है।

दृष्टिभेद से एक ही दृश्य किस प्रकार भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है, यह अनुभव सिद्ध तथ्य है। तथापि सुगमता के लिए एक उदाहरण लीजिए—किसी विलासिनी का निर्जीव कलेवर पड़ा है। उसे एक कामुक देखता है, एक वासनामुक्त योगी देखता है और एक कुत्ता देखता है। तीनों की दृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। कामुक सोचता है—आह, कामवासना तृप्ति का एक सुन्दर साधन नष्ट हो गया। योगी उसे संसार एवं जीवन की अनित्यता का प्रत्यक्ष उदाहरण समझता है और अपने वैराग्य की वृद्धि करता है। कुत्ता सोचता है—कब इस कलेवर के पास से लोग हटें और मैं अपने उदर की आग शमन करूँ।

एक ही दृश्य के विषय में तीन दर्शकों की दृष्टियाँ तीन ही प्रकार की हैं! इस दृष्टिभेद का क्या कारण है?

अन्तरतर के संस्कारों द्वारा जनित विभिन्न वृत्तियाँ इस दृष्टि वैचित्र्य का मूल कारण हैं। इसी प्रकार जब तक मनुष्य में अनन्तानुबन्धी जैसे प्रगाढ़ कषाय का अस्तित्व है और साथ ही दर्शनमोह का अखण्ड साम्राज्य है, तब तक वृत्तियाँ निर्मल नहीं बन पातीं। कलुषित वृत्तियाँ दृष्टि को मलीमस बनाती हैं और जब दृष्टि ही मलीमस होती है तो मनुष्य की सारी सूझ-बूझ भ्रान्त और मिथ्या बनी रहती है। ऐसी स्थिति में मानवीय व्यापार सही दिशा में ही प्रेरित हों, यह सम्भव नहीं।

तात्त्विकी दृष्टि

किन्तु आत्मा इतना अभागा नहीं, इतना निस्तेज और निर्वीर्य नहीं कि इस अधोदशा से कभी छुटकारा ही न पा सके। निमित्त पाकर उसका वीर्य उल्लसित होता है और तेज प्रस्फुटित होता है। तब आत्मा अपनी मलीमस मनोवृत्ति से, मिथ्यात्वदशा से मुक्ति पाता है

और उसकी रुचि, प्रतीति एवं श्रद्धा सही दिशा में प्रवृत्त होती है। वह वस्तु स्वरूप को उसके यथार्थ रूप में देखने लगता है। सत्य के प्रति अटल विश्वास जागृत हो जाता है। वह स्व-स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझने लगता है। अब तक राग-द्वेष का जो चश्मा, वस्तु स्वरूप के अवलोक में अपना रंग मिला देता था, वह नहीं मिला पाता। इस कारण आत्मा को शुद्ध तत्त्व दृष्टिगोचर होने लगता है। संक्षेप में, यही सम्यग्दर्शन है।

अपूर्व दर्शन

जन्मान्ध पुरुष को सहसा दृष्टि प्राप्त हो जाय तो उसके सामने विविध रंग-रूपमयी और नाना आकार-प्रकार वाली सृष्टि की अपूर्व छटा उपस्थित हो जाती है, जिसकी पूर्व में वह कल्पना भी नहीं कर सकता था। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर आत्मा को पूर्वदृष्ट पदार्थ नूतन स्वरूप में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। मानो समग्र विश्व ने सहसा पुराना चोला उतारकर नया चोला धारण कर लिया हो। ऐसी आत्मा के समस्त मापदण्ड बदल जाते हैं। वह नये सिरे से वस्तु का मूल्य निर्धारित करने लगता है। जिस भोगसामग्री को वह जीवन का सर्वस्व समझता था, उसे रोग समझने लगता है। जिन मणि और स्वर्ण आदि वस्तुओं को बहुमूल्य मानकर उनकी प्राप्ति के लिए पुण्य-पाप एवं नीति-अनीति की अवगणना करता था, वही उसे मिट्टी के टुकड़े नजर आने लगते हैं।

एक हिन्दी-कवि ने सम्यग्दर्शी की चित्तवृत्ति का अतीव सुन्दर और सजीव चित्रण करते हुए कहा है—

> चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखा भोग।
> काक-बीट सम गिनत है, सम्यक्दर्शी लोग॥

षट् खण्ड भारत क्षेत्र के अद्वितीय अधिपति, चतुर्दश महान् रत्नों के और नव निधानों के स्वामी चक्रवर्ती की विभूति इसमर्त्य लोक में असाधारण मानी जाती है। इन्द्र का दिव्य वैभव स्वर्ग लोक में सर्वोत्तम समझा जाता है, जिसके लिए सामान्य देव पुरुष भी तरसते हैं। किन्तु इस असाधारण, अतुल और अनुपम विभूति को भी सम्यग्दृष्टि तुच्छ समझता है। उसकी विशुद्ध दृष्टि में वह 'काक-बीट' है। इस प्रकार की निखालिस दृष्टि प्राप्त हो जाना ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दृष्टि की अलिप्तता

यह अनिवार्य नहीं कि सम्यग्दृष्टि सम्पन्न पुरुष गृहवास त्याग कर गिरिवास अंगीकार करे ही, परिवार का परित्याग कर अनगार ही बने और सांसारिक व कुटुम्ब जाल को छिटका ही दे, वह ऐसा कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता। वह गृहस्थी में रहता है, तब भी मुमुक्षु होकर रहता है। परिवार के पालन-पोषण, संगोपन और संरक्षण में व्यस्त रह कर भी उसमें लिप्त नहीं होता। भोगोपभोगों का भोग करता हुआ भी उनमें तन्मय नहीं होता। उसका अन्तस् उसी प्रकार विलग रहता है जैसे जल में रहने वाला कमल जल से विलग रहता है।

> सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
> अन्तस से न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥
>
> —आलोचना पाठ

धाय बालक को दूध पिलाती है, खेलाती है, बालक के दुःख में दुखी और सुख में सुखी होती है। वह जननी के समान सभी बाह्य व्यापार करती है। परन्तु क्या एक क्षण के लिए भी कभी भूल सकती है कि यह बालक वस्तुतः मेरा नहीं—पराया है?

इस विषय में उसका आन्तरिक विवेक सदा जागृत रहता है। यही स्थिति सम्यग्दृष्टि जीव की होती है। वह कभी विवेक को दृष्टि से ओझल नहीं होने देता। वास्तविकता उसका पथप्रदर्शन करती है। वह सभी कुछ करता हुआ भी मानो कुछ नहीं करता।

दर्शन की कसौटी

जैनागमों में सम्यग्दर्शन की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है। वाचक उमास्वाति अपने प्रसिद्ध तत्त्वार्थ सूत्र में कहते हैं :—

तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्।

अर्थात्—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन तत्त्वों पर श्रद्धान उत्पन्न हो जाना सम्यग्दर्शन है।

आवश्यक सूत्र में कहा गया है —

अरिहन्तो महदेवो,
जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण-पण्णत्तं तत्तं,
इइ सम्मत्तं मए गहियं॥

काम क्रोध मद मोह आदि समस्त विकारों के विजेता वीतराग परमात्मा ही मेरे देव हैं, पाँच महाव्रतों के धारक सुसाधु ही मेरे गुरु हैं, और वीतराग प्ररुपित तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है, इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा सम्यक्त्व कहलाती है।

इन परिभाषाओं में अर्थतः अन्तर नहीं है। आशय यह है कि यथार्थ श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि रूप आत्मपरिणति ही सम्यग्दर्शन है।

ज़िन्दगी की बदलती हुई तस्वीरें

उत्पत्ति क्रम :

सागर की ऊपरी सतह को देख कर ही यह नहीं जाना जा सकता कि इसके नीचे असीम और अथाह जलराशि विद्यमान है। उसकी गहराई का पता तो तभी चलता है जब उसके भीतर अवगाहन किया जाय।

जैन परम्परा में 'सम्यग्दर्शन' बहुत प्रचलित शब्द है। तथापि उसके अद्भुत प्रभाव को और उसके वास्तविक स्वरूप को, साथ ही उसके उत्पत्तिक्रम को जानने वाले विरले ही मिलेंगे। किन्तु इन तथ्यों को सही-रूप में समझे बिना सम्यग्दर्शन को पूरी तरह समझना सम्भव नहीं है। यद्यपि प्रस्तुत विषय शास्त्रीय परिभाषाओं से भरा है और इस कारण सर्वसाधारण के लिए दुरुह एवं दुर्बोध है, तथापि वह अगम्य नहीं है। साधना के क्षेत्र में उसका जो महत्त्व है, उसे देखते हुए प्रत्येक मुमुक्षु को उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन के प्रभाव और स्वरूप पर किंचित् प्रकाश डाला जा चुका है। यहां उसके उत्पत्तिक्रम के सम्बन्ध में कहना है।

त्रिविध आत्माएँ :

विराट् विश्व में जो अनन्त स्वतन्त्र आत्माएँ हैं, चाहे वे चर (त्रस) हैं या अचर (स्थावर), जैन दर्शन में, आध्यात्मिक विकास की

दृष्टि से उनका तीन भागों में वर्गीकरण किया गया है। वे हैं—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[1]

वहिरात्मा

जो आत्मा पूर्णरूपेण वहिर्मुख या वहिर्वृत्ति रहता है, वह वहिरात्मा कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा अपने वास्तविक एवं विशुद्ध स्वरूप से, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की प्रवलता के कारण सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। उसे आत्मदेवता का दर्शन नहीं होता। वह पररूप को ही स्वरूप मानता है। पर-पदार्थों में ही उसकी रुचि और ममता रहती है। अतएव उन्हें प्राप्त करने के लिए ही वह रात-दिन निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। वह अनमोल आत्मिक निधि से अनभिज्ञ होने के कारण वाह्य पदार्थों के पीछे दीवाना वना भटकता है। उनके संयोग में हर्ष और वियोग में विषाद का अनुभव करता है।

यद्यपि आत्मा और शरीर खड्ग और म्यान की तरह पृथक्-पृथक् सत्ता वाले हैं, दोनों के स्वरूप में कोई साम्य नहीं हैं, तथापि

---

१. (क) अन्ये तु मिथ्या दर्शनादि भाव परिणतो वाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवल ज्ञानादि परिणामस्तु परमात्मा।

— अध्यात्ममत परीक्षा गा १२५

(ख) वाह्यात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मेति च त्रय:
कायाधिष्ठायक ध्येया: प्रसिद्ध योगवाङ्मये ॥ १७
अन्ये मिथ्यात्व सम्यक्त्व केवल ज्ञान भागिन:।
मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनी ॥ १८

—योगावतार द्वात्रिंशिका

(ग) परमात्म प्रकाश, गा. १३-१४, १५

बहिरात्मा उनके पार्थक्य को अनुभव नहीं कर पाता। वह देह को ही आत्मा समझता है।

जिस प्रकार दिग्भ्रान्त मानव पश्चिम को पूर्व मान कर चलता है और अपनी मंजिल से दूर दूरतर होता जाता है, उसी प्रकार भ्रमग्रस्त बहिरात्मा भी सुख प्राप्ति के लिए दुःखों के मार्ग को अपनाता है और सुख से वंचित होता जाता है।

जीव की यह स्थिति मिथ्यात्व मोह के उदय से होती है, मगर सभी बहिरात्माएँ एक ही समान मोहग्रस्त नहीं होतीं। उनमें भी असंख्य प्रकार का तारतम्य होता है, जिसे छद्मस्थ नहीं जान सकता।

प्रकाश की ओर

भवभ्रमण करते-करते और विविध प्रकार के विषम, दुस्सह एवं भयानक कष्ट तथा सन्ताप सहन करते-करते कदाचित् ऐसा अवसर आता है, जब मोह का आवरण किञ्चित् पतला पड जाता है। अकामनिर्जरा करते-करते अन्यान्य कर्मों की लम्बी स्थिति भी कम हो जाती है। मोह कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटिसागरोपम की, ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय की ३०-३० कोटा-कोटि सागरोपम की, नाम और गोत्र कर्म की २०-२० कोटा कोटि सागरोपम की, और आयु कर्म की ३३ सागरोपम की है। इनमें से आयु कर्म को छोड़ कर शेष कर्मों की स्थिति घट कर जब एक कोटा कोटि सागरोपम से भी किंचित् न्यून रह जाती है, उस समय आत्मा की सहज वीर्य शक्ति कुछ उल्लसित होती है। ऐसे अवसर पर आत्मा में उत्पन्न होने वाला विशिष्ट परिणाम यथाप्रवृत्तिकरण कहलाता है[1]। इस करण की उत्पत्ति होना ही आत्मा का सम्यक्त्व प्राप्ति के पथ पर लग जाना है।

---

१ देखिए विशेषावश्यक भाष्य।

यथाप्रवृत्तिकरण

इस करण की कल्पना को सुगमता से हृदयंगम करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने पार्वत्य प्रदेश से निसृत नदी के पाषाण का उदाहरण दिया है।

एक अनगड़ पत्थर सरिता के द्रुतगामी प्रवाह में बहता हुआ, बार-बार लगातार टक्करें खाता हुआ, घिसता-घिसता गोलमटोल और चिकना बन जाता है। इसी प्रकार कोई-कोई आत्मा कष्टों एवं संकटों की विकट घाटियों में गुजरता हुआ उस पाषाण के समान विशिष्ट योग्यता सम्पन्न बन जाता है। वह दुःखों का अनुभव तो अधिक करता है, किन्तु काषायिक भावों की उग्रता कम होने से नवीन कर्म बन्ध कम करता है।

कल्पना कीजिए, एक वस्त्र अत्यन्त मलिन है और उसमें घी या तेल का दाग लग गया है। उसे धूल में बिछा दिया जाय तो स्निग्धता के कारण उस दाग पर इतनी अधिक धूल चिपक जाएगी कि दाग दिखाई देना बन्द हो जाएगा। एक बार उस वस्त्र को सादे जल से धोया जाय तो दाग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगेगा। तत्पश्चात् उस वस्त्र को उष्ण जल से और फिर साबुन या सोड़े से दो तीन बार धो लिया जाय तो दाग दूर हो जाएगा और वस्त्र स्वच्छ हो जायगा।

उस वस्त्र को एक बार धूलि में बिछा दिया जाय तो पुनः वह धूलिधूसर हो जायगा, किन्तु चिकनाई न होने से वह उतना अधिक मलिन नहीं होगा और एक बार साधारण जल से धोते ही साफ हो जाएगा।

मानो, यह आत्मा भी एक वस्त्र है। कर्मों की धूलि के सम्पर्क मे मलिन हो गया है। उसमें राग-द्वेष का दाग लग गया है। उस पर पुनः कर्मों की धूल चढ़ गई है और इस कारण राग-द्वेष का दाग दिखाई नहीं देता। किन्तु, अकामनिर्जरा करते-करते आत्मा में किंचित् उज्ज्वलता आई है और इस कारण राग-द्वेष का दाग दिखाई देने लगा है। इस प्रकार की उज्ज्वलता ही यथाप्रवृत्तिकरण कहलाती है।

'करण' शब्द का अन्यत्र कुछ भी अभिप्राय हो, यहाँ जीव का 'परिणाम ही करण कहलाता है। उपाध्याय विनय विजय जी ने लोकप्रकाश में कहा है—

'परिणाम विशेषोऽत्र, करणं प्राणिनां मतम्'

हाँ, तो यथाप्रवृत्तिकरण दो प्रकार का होता है—एक साधारण और दूसरा विशिष्ट। साधारण यथा-प्रवृत्तिकरण में दाग दिखलाई देता है, किन्तु उसे छुड़ाने का प्रयत्न करने से पूर्व ही आत्म-पट को धूल में बिछा दिया जाता है। फल यह होता है कि आत्मा में जो यत्किंचित् उज्ज्वलता का आभास हुआ था, वह पुनः छिप जाता है और उसकी स्थिति पुनः पूर्ववत् ही हो जाती है। इस प्रकार सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव विशुद्धि के पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता यह करण इतना सामान्य है कि अभव्य जीवों को भी अनन्तवार प्राप्त हो जाता है।

चक्रवर्ती सम्राट् को, राजाओं-महाराजाओं को, श्रेष्ठियों और सामन्तों को, मुनिराजों के चरणों में प्रणिपात करते देख कर और स्वर्ग के चित्ताकर्षक प्रलोभनों की बात सुन कर सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण प्राप्त अभव्य प्राणी भी द्रव्यतः चारित्र अंगीकार कर लेता है और उसका

उत्कृष्ट रूप से पालन करता हुआ, दृष्टिवाद के नौवें पूर्व की तृतीय वस्तु[1] तक का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार बाह्य चारित्र और ज्ञान प्राप्त करके वह जीव नौवें ग्रैवेयक स्वर्गविमान तक जा पहुँचता है और वहां के स्वर्गीय सुखों का उपभोग कर लेता है, तथापि सम्यग्दर्शन के अभाव में उसे समीचीन ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति नहीं होती और परिणामतः मुक्ति उसे प्राप्त नहीं हो सकती।

दूसरा, विशिष्ट यथा प्रवृत्तिकरण मुक्ति के महा मार्ग पर प्रयाण करने का प्रथम कदम है, पहला स्टेशन है। इसे पार किये बिना आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। इसी स्टेशन से मुक्ति का टिकिट हासिल किया जाता है।

अपूर्वकरण

विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण वाले आत्मा को जब आत्मपट पर राग-द्वेष का दाग दृष्टिगोचर होता है तो वह उसे पूरी तरह मिटाये बिना चैन नहीं लेता। प्रबल प्रयत्न करके वह उस दाग को छुटा ही डालता है। यह राग-द्वेष के दाग का शिथिल हो जाना ही अपूर्वकरण[2] कहलाता है। ऐसा परिणाम पुनः पुनः प्राप्त नहीं होता, इसी कारण वह 'अपूर्वकरण' कहलाता है। इस करण के प्राप्त होने पर ही आत्मा में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता अथवा पात्रता आती है।

प्रगाढराग-द्वेष के अत्यन्त मलिन परिणाम—'ग्रन्थि' कहलाते हैं। इस ग्रन्थि का भेदन अपूर्वकरण के बिना सम्भव नहीं है और

---

१ जो आगम आज उपलब्ध नहीं है उस आगम का अध्ययन विशेष।
२ विशेषावश्यक भाष्य प्रवचन सारोद्धार आदि।

ग्रन्थिभेदन के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण अपने सुप्रसिद्ध विशेषावश्यक भाष्य में कहते हैं:—

गंथि त्ति सुदुब्भेओ,
कक्खडघणरूढ गूढगंठिव्व।
जीवस्स कम्म जणिओ,
घणरागद्दोस परिणामो॥

सघन राग-द्वेष रूप आत्म परिणाम ही ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि अत्यन्त कठिनाई से भेदन की जा सकती है। यह आत्मा में अनादि-काल से या चिरकाल से लगी हुई है। गुप्त वांस की गांठ के समान इस ग्रन्थि का भेदन करना आसान नहीं है।

अनिवृत्तिकरण

अपूर्वकरण के द्वारा ही इस कर्मग्रन्थि का भेदन किया जाता है। ग्रन्थिभेद होने पर आत्माकाश में व्याप्त भ्रान्ति एवं विमूढता की सघन घनघटाएं छिन्न भिन्न हो जाती हैं, प्रकाश की सुनहरी किरणें अपना सुकुमार स्वरूप प्रकट करती हैं। आत्मा में एक प्रकार की अनिर्वचनीय और अननुभूतपूर्व लोकोत्तर निर्मलता व्याप्त हो जाती हैं और उसे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है। यही अनिवृत्तिकरण[1] है और यही सम्यक्त्व प्राप्ति का द्वार है।

---

१ (क) आवश्यक मलयगिरी गा० १०६–१०७ टीका
(ख) विशेपावश्यक भाष्य, गा० १२०२ से १२१८
(ग) प्रवचन सारोद्धार द्वार २२४ गा० १३०२ टीका
(घ) कर्म ग्रन्थ द्वितीय भाग गाथा २
(ङ) आगम सार

करण–स्पष्टीकरण

उपर्युक्त तीन करणों को सुबोध बनाने के लिए तीन पथिकों का उदाहरण[1] जैन वाङ्मय में प्रसिद्ध है। उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिससे सर्वसाधारण को प्रस्तुत विषय सरलता से समझ में आ जाय।

एक सेठ के तीन पुत्रों ने व्यापार के उद्देश्य से, किसी महानगर की ओर प्रस्थान किया। प्राचीनकाल में, आधुनिक युग के समान, यात्रा के द्रुत-तर गामी साधन उपलब्ध नहीं थे। अतएव तीनों भाई पैदल ही चले। चलते-चलते वे एक विकट एवं विजन घाटी में पहुंचे। कहीं मानव की सूरत दिखाई नहीं देती थी। मार्ग के दोनों पार्श्वों में, लम्बी-लम्बी, दूर तक, सघन वृक्ष ही वृक्ष थे। तीनों भाई अपने लक्ष्य तक पहुचने के उद्देश्य से बढ़े चले जा रहे थे।

अकस्मात् समीप की एक पहाड़ी की चोटी से दो डाकू नीचे उतरे, उनकी भयानक आकृति हृदय में कम्पन्न उत्पन्न कर देने वाली थी तथा उनका वह रौद्र रूप धनुषबाण से सुसज्जित और भी भयंकर प्रतीत हो रहा था। दिल दहला देने वाली ललकार से ललकारते हुए, वे कुछ दूरी पर, उनके मार्ग में, मगर उन्हीं की ओर मुख करके, अड़ गये।

तीनों भाइयों में, जो सबसे छोटा था, प्रबल विरोधियों को देखते ही भयभीत हो गया। भयभीत होने पर मनुष्य का साहस और धैर्य गायब हो जाता है और वह गांठ का बल भी खो बैठता है। वह डाकुओं को सामने देखते ही पीछे की ओर भाग खड़ा हुआ।

---

१ (क) विशेषावश्यक भाष्य गा० १२११ से १२१४ तक
(ख) लोक प्रकाश सर्ग ३

दूसरा भाई उसकी अपेक्षा कुछ अधिक साहसी था। वह भागा तो नहीं, मगर प्रचण्ड सामर्थ्यवान् न होने के कारण विरोधियों पर विजय भी न प्राप्त कर सका। वह उनके अधीन हो गया। और आगे न बढ़ सका।

तीसरा शूर और पराक्रमी था। उसने अपने प्रबल पराक्रम से शत्रुओं को परास्त कर दिया। वह अपनी प्रगति के अवरोध को छिन्न-भिन्न करके, पथ को निष्कंटक बनाकर अग्रसर हुआ और अपने अभीष्ट लक्ष्य पर जा पहुँचा।

उपनय

यही उल्लिखित तीन करणों की कहानी है। तीन करण, तीन श्रेष्ठितनयों के समान, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए प्रस्थित होते हैं। ग्रन्थिदेश रूपी विकट घाटी में पहुँचने पर प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण अनन्तानुबंधी राग और द्वेष रूप दो प्रचण्ड डाकुओं को सामने अड़ा-खड़ा देखते ही पीछे की ओर खिसक जाता है। दूसरा, उनपर विजयी नहीं हो पाता, तथापि विजयी होने की अभिलाषा वाला होता है। तीसरा, जो सबसे अधिक शक्ति-सम्पन्न है, अनन्तानुबंधी राग-द्वेष को जिनमें क्रोध, मान माया और लोभ की चौकड़ी गर्भित है, पराजित कर, घाटी पार कर लेता है, अर्थात्—ग्रन्थि भेदन करके सम्यग्दर्शन-चिन्तामणि को प्राप्त कर लेता है।

अन्तरात्मा

सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विवेक का आलोक आविर्भूत हो जाता है। उस आलोक में वह आत्मा-अनात्मा के अन्तर को समझने लगता है। उसकी अब तक

पररूप में स्वरूप की जो भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है। वह आत्मस्वरूप को निरखने लगता है। हेय और उपादेय के तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद को समझ जाता है। यही स्थिति अन्तरात्मा की भूमिका है।

परमात्मा

तीसरी अवस्था परमात्मदशा कहलाती है। जिस अवस्था में आत्मा का पूर्ण विशुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। निर्मल चिदानन्द उपलब्ध हो जाता है, समस्त आवरण छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, अज्ञान का निविड़ अंधकार सदा-सर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है, लोकोत्तर आत्मज्योति जाज्वल्यमान हो उठती है और अरिहन्त अथवा सिद्ध दशा की प्राप्ति हो जाती है, वह परमात्मदशा ही भव्य साधकों का चरम व परम लक्ष्य है।

जीवन दृष्टि के तत्व

लक्षण

सूर्य का उदय सृष्टि को नया रूप, नया जीवन प्रदान करता है। रजनी का निविड़ अन्धकार सहस्ररश्मि के उदित होते ही असीम आलोक के रूप में पलट जाता है और चराचर जगत् में एक नूतन स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है। सुषुप्ति की जड़ता समाप्त हो जाती है और जागृति की चेतना एवं चहल-पहल प्रारम्भ हो जाती है। जैसे समग्र विश्व में सहसा महाप्राण का संचार हो उठा हो!

सम्यग्दर्शन का उन्मेप होने पर आत्मा की भी ऐसी ही स्थिति होती है। जब तक सम्यग्दर्शन उदय नहीं होता, आत्मा सुषुप्त, जड़ताग्रस्त और प्राणविहीन सा बना रहता है। मगर सम्यग्दर्शन का उदय होते ही आत्मा में एकदम नवीन आलोक उत्पन्न होता है और वह आलोक उसमें एक ऐसा स्पन्दन पैदा करता है जो पहले कभी अनुभव में नहीं आया होता।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व ज्योति आत्मा के विचारों पर तो गहरा प्रभाव डालती ही है, व्यवहार में भी आमूल-चूल परिवर्तन उत्पन्न कर देती है। विचार और आचार में गहरा सम्बन्ध है। आचार, विचार का क्रियात्मक मूर्तरूप है। अतएव जब हमारे विचार में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो आचार पर उसका असर न होना असम्भव है।

यह आवश्यक नहीं कि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होते ही मनुष्य महाव्रत अथवा अणुव्रत अंगीकार कर सर्वव्रती या देशव्रती बन ही जाय, तथापि यह निश्चित है कि उसकी जीवनप्रणाली में, उसके व्यवहार में, और विशेषतः व्यवहार को प्रेरित करने वाली दृष्टि में महान् अन्तर आ जाता है।

अध्यात्मवेत्ता मनीषियों ने सम्यग्दृष्टि के जीवन व्यवहार को प्रभावित करने वाले मूलाधारों का वर्गीकरण किया है और उन्हें पांच भागों में बांट दिया है। वे सम्यग्दर्शन के पांच लक्षण कहलाते हैं, क्योंकि मोटेतौर पर वे सम्यग्दर्शन के अस्तित्व के परिचायक चिन्ह होते हैं। वे पाँच लक्षण ये हैं[1]— (१) प्रशम (२) संवेग (३) निर्वेद (४) अनुकम्पा और (५) आस्तिक्य।

(१) प्रशम

आत्मा अनादिकाल से भीतर ही भीतर धधकने वाली कषाय की आग से संतप्त रहता है। मिथ्यात्व दशा में कषाय जनित संताप अपनी तीव्रतम स्थिति में होता है। मगर जब मिथ्यात्व का अन्त होता है तो अनन्तानुबंधी नामक तीव्रतम कषाय का अन्त हो जाता है और तज्जन्य संताप भी दूर हो जाता है। अन्तरतर में एक प्रकार की अनिर्वचनीय शान्ति की मधुर अनुभूति होने लगती है। आत्मा अपने को शान्त और स्वस्थ अनुभव करने लगता है। संक्षेप में, यही प्रशम भाव है।

(२) संवेग

भवभ्रमण के प्रति भीति का भाव होना संवेग है। सम्यक्त्वी जीव किसी अन्य भय से भीत नहीं होता। उसकी रग-रग में निर्भयता व्यापी रहती है। जीवन का कण-कण और

१ धर्म संग्रह अधिकार. २ श्लोक २२।

क्षण-क्षण निर्भयता एवं निर्द्वंद्वता से ओत प्रोत रहता है। उसके क़दम कभी लड़खड़ाते नहीं। किन्तु पापमयी प्रवृत्ति करते हुए वह हिचकिचाता है, घबराता है, और भयभीत होता है। वह पापभीरु होता है और जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाने से डरता है। आत्मा में उदित हुई विमल सात्विकता के कारण ही ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। उसका वेग कुमार्ग की ओर से हट जाता है, सांसारिक वासनाओं की ओर उसका वेग नहीं होता और न कषाय की ओर ही होता है। वह बढ़ता है वास्तविक शान्ति की ओर, धर्म की ओर, उसके मुस्तैद क़दम सदा मुक्ति के महामार्ग की ओर ही बढ़ते हैं। संक्षेप में कहा जाय तो मोक्ष की अभिलाषा संवेग है।

एक आचार्य ने संवेग की व्याख्या करते हुए इस प्रकार कहा—

तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसा प्रधाने,
देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते;।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने,
संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥

अर्थात्—अहिंसा प्रधान सत्य धर्म पर, राग-द्वेष-मोह आदि समस्त विकारों से विरहित देव पर और परिग्रहहीन साधु पर अटल अनुराग होना संवेग कहलाता है।

निर्वेद

निर्वेद—सम्यग्दर्शन का तीसरा लक्षण निर्वेद है। सांसारिक विषयभोगों के प्रति, फिर चाहे वे मानुषिक हों या दैवी, विरक्ति का भाव होना निर्वेद है। सम्यग्दृष्टि के चित्त में परमानन्दमय आत्म-स्वरूप के प्रति इतना उग्र आकर्षण उत्पन्न हो जाता है कि संसार के उत्तम से उत्तम काम-भोग भी उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। मानव समूह में चक्रवर्ती सम्राट् के और देवों में इन्द्र के

भोगोपभोग सर्वोत्तम समझे जाते हैं और बड़े-बड़े घोर तपस्वी भी, जिन्हें कि सम्यक्त्व का लाभ नहीं हुआ है, इनकी कामना करते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव, भले ही वह तपस्वी एवं त्यागी न बना हो, इनके प्रलोभन में नहीं पड़ता। उसे यह काम-भोग नीरस, दुःख के हेतु, आकुलता बढ़ाने वाले और जन्म-मरण की परम्परा के निमित्त रूप ही प्रतीत होते हैं। वह विषयों का उपभोग करता हुआ भी उन में आसक्त, तन्मय, तल्लीन एवं तच्चित्त नहीं होता। कमलपत्रवत् निर्लेप रहता है। कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है और जलपरिपूर्ण सरोवर में स्थित रहता है, तथापि वह जल और कीचड़ से अलिप्त रहता है। कमल के पत्तों पर से पानी बह जाय तो भी चिकनाहट के कारण उन पर ठहरता नहीं—

जहा पोम्मं जले जायं,
नोव लिप्पइ वारिणा।

—उत्तरा. अध्य. २५. गा. २७

सम्यग्दृष्टि की आन्तरिक स्थिति भी इसी प्रकार की होती है। वह संसार में रहता हुआ भी संसार से प्रतीत सा रहता है।

नाटक का एक पात्र राजा का अभिनय करता है। वह युद्ध करता है, युद्ध में पराजित होने पर खेद का प्रदर्शन करता है प्रसन्नता के अवसर पर प्रसन्नता प्रकट करने में किसी राजा से कम नहीं ठहरता उसकी वेष-भूषा और भाषा, सब राजा की ही तरह होती है, मगर क्या वह अपने अन्तस में यह नहीं समझता कि मैं राजा नहीं, सिर्फ राजा का अभिनय कर रहा हूँ? सम्यग्दृष्टि भी अपने गृहस्थ जीवन के क्षेत्र में विविध प्रकार के अभिनय करता है दुख-सुख के प्रसंगों में दुखी एवं सुखी होता है, फिर भी अन्तर से अलिप्त

ही रहता है। संसार का तीव्र से तीव्र एवं मोहक से मोहक प्रलोभन भी उसकी अलिप्तता को चुनौती नहीं दे सकता।

'योगबिन्दु' में आचार्यप्रवर हरिभद्र ने सम्यग्दृष्टि के संबंध में, कहा है—

मोक्षे चित्तं, तनुर्भवे।

सम्यग्दृष्टि का मन मोक्ष में और तन संसार में होता है। कितना संक्षिप्त, सुन्दर और सारगर्भित चित्रण है। सम्यग्दृष्टि का हूबहू चित्र ही चार अक्षरों में अंकित कर दिया है! वास्तव में सम्यग्दृष्टि की मनोवृत्ति संसारातीत होती है। जैसे गाय का ध्यान बछड़े की ओर तथा पनिहारी का ध्यान मस्तक पर रक्खे हुए घट की ओर बराबर बना रहता है, उसी प्रकार संसार व्यवहार में व्यापृत रहता हुआ भी सम्यग्दृष्टि अपनी सूक्ष्म एवं आन्तरिक दृष्टि मुक्ति पर ही गड़ाये रहता है।

सम्यग्दृष्टि संसार में उसी प्रकार रहता है जैसे विभीषण लंका में रहता था। कहते हैं एक बार भक्त प्रवर हनुमान ने विभीषण से पूछा—बन्धुवर, आप यहाँ किस प्रकार रहते हैं? विभीषण बोले—

सुनहु पवनसुत! रहनि हमारी,
जिमि दसनन बिच जीभ बिचारी।

—रामचरित मानस

जैसे बत्तीस दाँतों के बीच जीभ को सदा सतर्क और सावधान रहना पड़ता है, उसी प्रकार मुझे यहाँ रहना पड़ता है।

एक उर्दू शायर ने अलिप्त मानस का जो चित्रण किया सम्यग्दृष्टि के संबंध में वह पूरी तरह घटित होता है—

लाई हयात आए, कज़ा ले चली, चले,
अपनी खुशी न आए, न अपनी खुशी चले।
बेहतर तो यही कि न दुनिया से दिल लगे,
पर क्या करें जो कामना बेदिल्लगी चले॥

—उर्दू शायरी

आशय यह है कि—ज़िन्दगी हमें इस दुनियां में लाई तो आ गये, मौत जब ले गई तो चल दिये। हम अपनी इच्छा से न जन्मना चाहते हैं, न मरना चाहते हैं। जन्म-मरण की इस लंबी शृंखला से बंधा रहना हमें पसंद नहीं। उत्तम तो यही है कि संसार में रहते भी संसार में मन न लगे, मगर करें क्या, जब संसार में बैठे हैं तो सांसारिक मानवों से प्रेम करना ही पड़ता है! व्यवहार-साधन किये बिना कैसे काम चल सकता है!

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, दोनों ही संसार के भोगोपभोगों का उपभोग करते हैं, किन्तु दोनों के उपभोग में महान् अन्तर होता है। उसे मोटे रूप में इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं—भ्रमर सौरभमय सुमनों पर मंडराता है, आलीन होता है, उनका रसास्वादन करता है, मगर फूलों का ही नहीं हो रहता। वह जब उड़ने की इच्छा करता है, तभी उड़ जाता है। कोई बन्धन उसने अपने लिए निर्माण नहीं किया है। मगर श्लेष्म पर बैठने वाली मक्खी की बात निराली है। वह उसमें ऐसी फँस जाती है कि उड़ने की इच्छा हो तो भी उड़ नहीं सकती। वह अपनी ज़िन्दगी वहीं समाप्त कर देती है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का भोग भ्रमर के समान है तो मिथ्यादृष्टि का मक्खी के समान। सम्यग्दृष्टि दुःखों-संकटों के थपेड़ों से घबराता नहीं और न सुख की लोल लहरों में अपने जीवन को विनष्ट करता है। वह फूल तथा शूल में, मित्र तथा शत्रु में और इष्ट तथा अनिष्ट में समबुद्धि अनुभव करता है।

सहस्रों वर्षों तक जल के तल में निमग्न रहने पर भी स्वर्ण पर काई नहीं चढ़ती। इसी प्रकार सांसारिक दायित्वों को निभाने और चिरकाल तक गार्हस्थ्य में रहने पर भी सम्यग्दृष्टि पाप से लिप्त नहीं होता। इसी से शास्त्रकार कहते हैं—

सम्मत्तदंसी न करेई पावं।

सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषाय से प्रेरित पाप नहीं करता और न पापाचरण की आन्तरिक रुचि ही होती है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि की अन्तरात्मा में जो निर्लेपवृत्ति उदित होती है, उसे निर्वेदभाव की संज्ञा प्रदान की गई है

अनुकम्पा

(४) अनुकम्पा— दुःखी प्राणी का अवलोकन कर हृदय में कम्पन्न होना और तदर्थ दुःख मुक्ति की भावना अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि जीव का चित्त ऐसा सात्विक और सुकोमल बन जाता है कि वह दूसरे को दुःखमय स्थिति में देख कर आँखें नहीं मूंद सकता। वह उस दुःख को दूर करने की भरसक चेष्टा करता है। वह प्राणि-मात्र में मैत्री और बन्धुभाव को साकार देखता है। 'मित्ती मे सव्व-भूएसु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उदार स्वर उसके अन्तर्मानस में सतत झंकृत होता रहता है। कभी किसी प्राणी को कष्ट में देखता है तो उसके तन, मन और नयन आकुल-व्याकुल हो उठते है। वह

विकल और विह्वल होकर उसके निवारण के लिए अपना समस्त सामर्थ्य समर्पित कर देता है। उसके लिए अपना दुःख उपेक्षणीय हो सकता है, अन्य का नहीं। वह अपने प्रति वज्र-सा कठोर होकर भी पर के प्रति कुसुम-सा कोमल होता है। एक कपोत की प्राण रक्षा के लिए अपने अंग-अंग को काट-काट कर अर्पित करने वाले मूर्धन्य महाराजा मेघरथ की गरिमामयी गाथा सम्यग्दृष्टि की आन्तरिक मनोभावना को समझने में बहुत सहायक हो सकती है। क्या रिश्ता था कबूतर के साथ मेघरथ का? फिर वह कौन-सी भावना थी, जिससे प्रेरित होकर वह अपने शरीर की आहुती देने को तैयार हो गया?

और, उन प्रातः स्मरणीय महामुनि धर्मरुचि[१] की गौरवमयी गाथा, सहस्रों वर्षों के बाद, आज भी हमारे हृदय को आलोडित कर देती है। जिन्होंने अनुकम्पा की पावन वेदिका पर अपने प्राणों की बलि दी थी।

भगवान् भास्कर अपनी प्रखर रश्मियों के साथ व्योम पर आधिपत्य स्थापित कर अठखेलियाँ कर रहा था। चारों ओर भीष्म ग्रीष्म की उष्णता का निष्कंटक साम्राज्य था। भूतल तवे की तरह तप्त हो रहा था।

एक महामुनि नीची निगाह किये चले जा रहे थे। कृशकाय मगर दमकता हुआ चेहरा! विशाल भाल, गौरवपूर्ण उज्ज्वल नयन जिन से करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित हो रही थी। गंभीर और प्रशान्त मुद्रा। उन्हें देख नागरिक आश्चर्यान्वित हो रहे थे—यह क्या, एक दिनकर आकाश में है, दूसरा पृथ्वी पर कहाँ से आ गया?

---

[१] ज्ञातृधर्म कथा, अध्य. १६

वह महाश्रमण शनैः शनैः शालीनतामयी गति से, मौन भाव से पथ पर अग्रसर हो रहा था। सहसा एक भव्य-भवन के द्वार पर स्थित एक रमणी ने आवाज लगाई--महाराज, अनुग्रह कीजिए। आहार विशुद्ध है।

श्रमण पहुँचे भोजनालय के निकट। रमणी का कर-कमल शाक-पात्र से सुशोभित था। मुनि ने अपना पात्र पसारा और रमणी ने, किसी अज्ञात आकुलता के साथ, पात्र का सारा ही शाक मुनि के पात्र में उँडेल दिया। मुनि 'बस-बस' कहते रहे, मगर उसे सुनने का अवकाश ही कहाँ था।

मुनि उस दिन शाक ही लेकर लौट पड़े अपने गुरुदेव के श्री चरणों में।

गुरुदेव को आहार दिखलाया। उन्होंने खेद के साथ मुनि के चेहरे की ओर देखते हुए कहा देवानुप्रिय ! मासक्षमण की दीर्घ तपस्या के पारणा में केवल शाक ही !

मुनि गंभीर स्मित पूर्वक बोले—भंते! वह बहिन मानी ही नहीं। उसने सारा शाक दे दिया। यही इतना हो गया कि दूसरे आहार की आवश्यकता ही नहीं रही।

श्रमण ने अपनी प्रशस्त परम्परा के अनुसार गुरुदेव को आमंत्रित किया आहार ग्रहण करने के लिए, आमंत्रण को अंगीकार करके अथवा सहसा उदित हुई किसी आशंका से प्रेरित होकर आचार्य ने शाक का एक कण मुख में डाला और फिर अपने प्रिय अन्तेवासी से कहा—वत्स, यह क्या लाया है ? यह तो गरल है हलाहल है।

गुरुदेव ने शिष्य को आदेश दिया—इस आहार को ऐसे स्थान पर परठ दो कि किसी जीव की हिंसा न हो।

मास-तपस्वी पुनः पात्र लेकर चल पड़ा वनप्रदेश की ओर। मुख-कमल मुरझा रहा था ग्रीष्म के दुस्साह ताप में, किन्तु वह योगी चला जा रहा था ऐसी निर्जीव भूमि की तलाश में, जहाँ शाक परठने से किसी जीव को आघात न पहुँचे।

एक स्वच्छ स्थान दिखलाई दिया, प्राणियों से रहित। एक कण आहार का डाला भूमि पर और वहीं बैठ कर देखने लगे—कोई जीव जन्तु तो नहीं आता है इसे खाने के लिए। मगर तीव्रघ्राण चींटियाँ शाक की गंध से प्रेरित हो उमड़ने लगीं, मानों हलाहल शाक के रूप में मृत्यु उन्हें आह्वान कर रही थी।

अपने ऊपर आये उपसर्गों और परिषहों से कभी न हिलने वाला मुनि का दिल इस दृश्य को देख कर दहल उठा। मैं अपनी प्राण-रक्षा के लिए इन असंख्य जीवनधारियों के संहार का कारण बनूँ!

करुणा सागर का अन्तः करण करुणा की तरल तरंगों से तरंगित होने लगा। अनुकम्पा की परम भावना हृदय में ठाठें मारने लगी। सोचा— गुरुदेव का आदेश है जहाँ परठने से किसी जीव की हिंसा न हो, वहाँ शाक परठा जाय। ऐसा स्थान मेरे उदर के अतिरिक्त और कोई नहीं दीखता। बस, उन्होंने पात्र उठाया और जीव रक्षा के पवित्र विचार से, उस हलाहल को गले के नीचे उतार लिया।

वह थे धर्मरुचि अनगार जो जीवरक्षा के लिए सदा मूर्तिमान आदर्श रहेंगे।

एक विचारक अंगरेज कहता है— 'तू अपना सुख पीछे देख प्रथम दूसरे के सुख का विचार कर।'

एक बार सन्तहृदय तुकाराम ने भी कहा था— 'यह शरीर स्वर्ण कलश के सदृश है, इसमें विलास की शराब न भरो, अनुकम्पा का अमी रस भर कर इस स्वर्ण कलश की शोभा बढ़ाओ।'

जिसके हृदय में इस प्रकार की अनुकम्पा अठखेलियां करती हैं, समझ लीजिए वही अपने जीवन को उत्थान के महापथ पर अग्रसर कर रहा है।

सम्यग्दृष्टि में स्वभावत: अनुकम्पा का अक्षय स्रोत फूट पड़ता है और वह प्राणियों के आर्तिनाश को ही अपने जीवन का महान् लक्ष्य बना लेता है। कवि कहता है—

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

मुझे राज्य नहीं चाहिये, वह विलास और अभिमान की दुर्वृत्ति उत्पन्न करता है। मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये, वह गांठ के पुण्य के क्षय का स्थान है, वहाँ धर्म पुण्य का संचय नहीं हो सकता। मुझे पुनर्भव की भी कामना नहीं, उससे बन्धनों की वृद्धि ही हो सकती है। मेरी एक ही कामना और एक ही अभिलाषा है— प्राणियों की पीड़ा का नाश करूं। जहाँ कहीं कोई दुखी, संकटग्रस्त और पीड़ित प्राणी दृष्टिगोचर हो, मैं उसे उबार सकूं— दुःख से मुक्त कर सकूं, उसके हृदय के घाव पर मलहम लगा सकूं।

इसे कहते हैं अनुकम्पा। अनुकम्पा सम्यक्त्व की कसौटी है। जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन का आविर्भाव हुआ है, उसमें अनुकम्पा का आविर्भाव अवश्यंभावी है। जहाँ अनुकम्पा नहीं वहाँ सम्यग्दर्शन का अस्तित्व नहीं।

आस्तिक्य

(५) आस्तिक्य— सम्यग्दर्शन का पांचवां और अन्तिम लक्षण आस्तिक्य है। आस्तिक और नास्तिक शब्दों के प्रयोग और अर्थ के सम्बन्ध में भारत के दार्शनिक क्षेत्र में पुराने समय से ही गहरे मतभेद रहे हैं। जब हम अतीत की गहराई में पैठ कर देखते हैं तो यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है कि इन शब्दों के साथ किस प्रकार खिलवाड़ किया गया है, कैसी आँखमिचौनी की गई है और किस प्रकार इन शब्दों की छीछालेदर की गई है! 'नास्तिक' शब्द एक अभिमत विशेष का वाचक न रहा और मानो गाली का वाचक बन गया। जिस किसी ने भी चाहा, अपने से किसी बात में मेल न खाने वाले समूह को 'नास्तिक' पदवी से विभूषित करके कृतार्थता का अनुभव किया। किसी मत या व्यक्ति को हलके से हलका और तुच्छ से तुच्छ दिखलाने के लिये 'नास्तिक' शब्द सर्वाधिक उपयुक्त माना गया। एक ने आविष्कार किया– वेद को अपौरुषेय और ईश्वरीय ज्ञान मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक है। दूसरे ने कल्पना की, मन्दिर–मूर्ति को भगवान् मानने वाला आस्तिक, न मानने वाला नास्तिक। तीसरे ने कहा— अमुक व्यक्ति को आराध्य मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक पन्थ के अनुयायी अपने को आस्तिक और दूसरो को नास्तिक मानते हैं। परिणाम यह है कि आज आस्तिक और नास्तिक शब्दों का मानों कोई नियत अर्थ ही नहीं रह गया है और यदि कुछ अर्थ है भी तो वह बोलने वाले की इच्छा पर ही शत प्रतिशत निर्भर है।

नास्तिकता का आधार

यह सब पांथिक संकीर्णता और साम्प्रदायिक व्यामोह का फल है। इस संकीर्णता और व्यामोह के कारण इतर सम्प्रदायों के लिये

कटुक से कटुक शब्दों का प्रयोग किया गया है। धर्मान्ध लोग कहते हैं कि दूसरे सर्वथा मृषाभाषी हैं, पाखण्डी हैं, ढोंगी हैं, म्लेच्छ हैं, काफिर हैं, धर्म का ठेका तो बस हमने ही ले रक्खा है। मुक्ति की चाबी हमारे पास ही है। जो हमारे विचारों से सहमत नहीं, वह नास्तिक है।

लेकिन जो जिज्ञासु है और सत्य को ही सर्वोपरि मानता है और अपने कदाग्रह के पंक से सत्य को पंकिल नहीं बनाना चाहता, वह तो वास्तविकता का ही विचार करेगा और देखेगा कि शब्द शास्त्र 'आस्तिक' और 'नास्तिक' शब्दों के अर्थ के विषय में क्या निर्णय देता है ?

आस्तिक और नास्तिक शब्द संस्कृत भाषा के हैं, अतएव संस्कृत व्याकरण से ही उनके अर्थ की वास्तविकता का पता लग सकता है।

संस्कृत व्याकरण के प्रौढ़ आचार्य पाणिनि अपने अष्टाध्यायी ग्रन्थ में कहते हैं

अस्ति–नास्ति–दिष्टं मतिः।

—अ० ४ पाद० ४ सू० ६०

भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी में इसका अर्थ किया है—'अस्ति परलोक इत्येव मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः' अर्थात् जो निश्चित रूप से परलोक पुनर्जन्म स्वीकार करता है, वह आस्तिक है और जो उसे नहीं अंगीकार करता, वह नास्तिक है।

आस्तिक और नास्तिक शब्दों की निष्पत्ति 'अस्ति' और 'नास्ति' शब्द से हुई है। 'अस्ति' शब्द सत्ता का वाचक और 'नास्ति' शब्द निषेध वाचक है। जो पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म और इस प्रकार

आत्मा के नित्यत्व पर विश्वास करता है, वह आस्तिक है, भले ही वह किसी मत की किसी पोथी को प्रमाणभूत स्वीकार करे या न करे। सच्चा आस्तिक आत्मा के सम्बन्ध में सतत चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करता है और सोचता है— मैं क्या हूँ? कहाँ से आया और इस चोले को त्याग कर कहाँ जाऊँगा। मेरी इस चिर यात्रा की विश्रान्ति कहाँ होने वाली है? मेरा प्राप्य क्या है, इत्यादि।

श्रमण भगवान् महावीर का महान् एवं गम्भीर घोष जिसके कर्ण-कुहरों में सतत गूंजता रहता है कि—

'अत्थि में आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए? के अहं आसी? के वा इओ चुए, इह पेच्चा भविस्सामि।'

—आचारांग १, सू० ३

वही वास्तव में आस्तिक है। जिस की विचारधारा इससे विपरीत दिशा में बहती है, जो आत्मा, पुण्य पाप, परलोक आदि के अस्तित्व से इन्कार करता है, वह नास्तिक है। 'वर्तमानदृष्टिपरो हि नास्तिकः' कह कर भारतीय आचार्य ने नास्तिक की पक्षपातहीन परिभाषा की है।

तो सम्यग्दृष्टि आत्मा में आस्तिकता का गहरा भाव होता है। वह भूत और भविष्यत् स्थिति को भुलाकर केवल वर्तमान को ही दृष्टि के सन्मुख नहीं रखता किन्तु अपनी त्रैकालिक अखण्ड सत्ता को अनुभव करता है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होने पर ये पाँच प्रकार की विचार-धाराएँ, जिन्हें पाँच लक्षण कहा गया है, आत्मा में अवश्य उत्पन्न हो जाती हैं।

★★

दर्शनाचार

पास ही रे हीरे की खान

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, संसार का प्रत्येक प्राणी सुख का अभिलाषी है, किन्तु संसार दुःखों का आकर है। जिस ओर भी दृष्टि पसार कर देखते है, दुःख, सन्ताप और अशान्ति के काले-कजराले वादल ही मंडराते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। सुमेरु तुल्य दुःख के अन्तराल में कदाचित् राई जितना सुख है भी तो वह भी शहद-लपेटी तलवार की धार को चाटने के समान है। उसका परिणाम भयानक अशान्ति एवं दुःख के रूप में सामने आता है।

किसके चित्त में शान्ति है ? किसके मन में सन्तुष्टि है ? कौन निराकुलता का अमृत पान कर रहा है ? जो निर्धन और दरिद्र हैं, वे अर्थाभाव में पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं। धनवान् अपने से अधिक धनी को देख कर ईर्षा की ज्वालाओं में दग्ध हो रहा है, तृष्णा की तरंगों में डूब-उतरा रहा है। किसी में ईर्षा और तृष्णा नहीं है तो वह धन के क्षीण हो जाने की कल्पना और तज्जनित भीति से व्याकुल है। मनुष्य को मनुष्य से भय है। सारांश, समस्त संसार दुःख से परिपूर्ण है और कहीं भी सुख की उज्ज्वल किरण नजर नहीं आती। सन्त रामदास ने सत्य ही कहा है— 'मूर्खामांजी परम मूर्ख, जो संसारी मानी सुख।' अर्थात् जो संसार में सुख मानता है, वह

मूर्खों में भी परम मूर्ख है। वास्तव में संसार में दुःख इतना स्थूल है कि वह मूर्ख से मूर्ख मनुष्य की दृष्टि से भी छिपा नहीं रह सकता। मगर जो उसे भी नहीं देख पाता या सुख के रूप में देखता है, उसके लिए किस शब्द की खोज की जाय? क्या काजल की कालिमा को दिखलाने की आवश्यकता है? आप नहीं देखते – कोई रोग से आक्रान्त हो कर कराह रहा है। कोई पत्नी, पुत्र आदि प्रियजनों की विरह वेदना का दुस्सह भार वहन करता हुआ व्यथित हो रहा है। कोई अनिष्ट संयोग से छुटकारा पाने के लिए छटपटा रहा है। किसी को भूख निगल जाना चाहती है। फिर जन्म - जरा - मरण की भीति तलवार के समान सभी की गर्दन पर लटक रही है। इस प्रकार चारों ओर दुःखों की, कष्टों की व्यथाओं की; और वेदनाओं की प्रचण्ड ज्वालाएँ धधक रही हैं। प्राणी मात्र उन ज्वालाओं में झुलस रहा है। कहाँ है शान्ति? कहाँ है सुख?

हमें जो भी मिलता है, अपने दुःख की रामकहानी कहता हुआ मिलता है। सबके अपने-अपने दुखड़े हैं। सबका अपना-अपना रोना है। कोई तन के लिए, कोई जन के लिए तो कोई धन के लिए कलप रहा है। कोई अतीत के लिए विसूर रहा है तो कोई भविष्य के पुल बांधने के लिए दिन-रात पच रहा है। दृढ़ता के साथ कौन कहता है कि मैं पूर्णरूपेण सुखी हूँ।

जब तक वाह्य पदार्थों में सुख की कल्पना है, इन्द्रियों के विषय-भोग सुख के साधन समझे जा रहे हैं तब तक सुख की प्राप्ति होना सम्भव भी नहीं है। अपथ्य को पथ्य मान कर सेवन करने वाला कैसे स्वस्थ हो सकता है? वास्तविक सुख का अक्षय भण्डार आत्मा में ही है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि निराला ने कहा है—

पास ही रे हीरे की खान,
खोजता उसे कहाँ नादान।

मानव ! सुख चाहता है तो उसकी वहीं तलाश कर जहाँ वह प्राप्त हो सकता है। सुख की खान आत्मा है, आप है, स्वयं तू है। पर तेरी नजर तो बाहर की ओर है और सुख भीतर है। फिर कैसे तुझे सुख की प्राप्ति होगी।

सुख चाहिये तो ज्ञानियों के ज्ञानालोक में देख। अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी बना। अपने आपको टटोल। वहीं तुझे सुख का अपार सागर लहराता हुआ दिखाई देगा। उसमें अवगाहन करने से तेरा अनादिकालीन सन्ताप सदा के लिए शान्त हो जाएगा। तेरी तृषा अनन्त-अनन्त काल के लिए तृप्त हो जाएगी।

जब आत्मा पर-पदार्थों से पराङ्मुख होकर, भौतिकवाद की चकाचौंध से अपनी दृष्टि हटा कर, अपने आप में गोते लगाता है, स्व-स्वरूप में निमग्न होता है, उस समय उसे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। वह सुख स्वर्ण सिंहासन पर आसीन होकर सहस्रों सामंतों को उंगली के इशारे पर नचाने वाले सम्राट् के भी भाग्य में नहीं है। स्वर्ग के स्वामी देवराज देवेन्द्र को भी नसीब नहीं हो सकता। वह सुख अपूर्व, अद्भुत, अनुपम और अनिर्वचनीय होता है। वह सुख कवि की कल्पना से अतीत है। लेखक की लेखनी में समा नहीं सकता। व्याख्याता उसे वाणी के माध्यम से व्यक्त नहीं कर सकता।

मगर इस प्रकार के सुख की उपलब्धि का मूल साधन सम्यग्दर्शन ही है। सम्यक्त्व के अभाव में न अन्तश्चक्षु खुलते हैं और न इस सुख का समास्वादन ही किया जा सकता है। यही कारण है कि जिन शासन में सम्यग्दर्शन की मुक्त कंठ से महिमा गाई गई है।

आठ अंग

सम्यग्दर्शन के आठ अंग या आचार हैं[1] जिनसे सम्यग्दर्शन का पालन, संरक्षण और संवर्द्धन होता है। शास्त्र में कहा है—

[1] पन्नवणा पद १, सूत्र ३७, गाथा १२८।

निस्संकिय - निक्कंखिय-
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह - थिरीकरणे,
वच्छल्ल - पभावणा अट्ठ ॥
—उत्तराध्ययन २८, ३१

सम्यग्दर्शन के आठ आचार हैं—(१) निश्शंकता (२) निष्कांक्षता (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टित्व (५) उपबृंहण (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना ।

आठ अंगों में सम्पूर्ण शरीर का समावेश हो जाता है, या यों कहा जाय कि आठ अंगों में शरीर अन्तर्निहित है, उसी प्रकार इन आठ अंगों में सम्यग्दर्शन निहित है। जैसे शरीर के स्वास्थ्य के लिए उसके आठों अंगों की सार-सम्भाल आवश्यक है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन को अविकृत रखने के लिए इन आठों अंगों का संरक्षण अनिवार्य है।

यहाँ इन आठों अंगों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कर लेना उपयोगी होगा।

निश्शंकता

निश्शंकता - यह सम्यक्त्व का प्रथम अंग है। निश्शंकता का अर्थ है— सर्वज्ञ एवं वीतराग द्वारा प्ररूपित सत्य तथ्य तत्त्व के विषय में शंका न रखना, पूर्ण श्रद्धा रखना।

श्रद्धा एवं विश्वास के बिना जीवन का विकास नहीं होता। हजारों-लाखों वर्षों तक उग्रतर तपश्चरण एवं साधना करने पर भी जीवन में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता, अतएव श्रद्धाविहीन साधना

किञ्चिन्मात्र भी मूल्य नहीं रखती। धर्मसंग्रह में श्रीमानविजयजी कहते हैं—

जिनोक्ततत्त्वेषु रुचिः श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते

जिनोक्त तत्त्वों पर अटल विश्वास होना श्रद्धा है और श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है, सम्यक्त्व है।

जीवन में सत्य के प्रति प्रगाढ आस्था व रुचि न हुई तो सत्य के प्रति अभिमुखता एवं निष्ठा भी सम्भव नहीं है। सत्यनिष्ठा से जीवन में मंगलमय आलोक की किरणें स्फुरित होती हैं और उस आलोक में विचरण करने का अपूर्व बल भी मिलता है। सत्य निष्ठा मानव के जीवन को सत्यमय बना देती है, क्योंकि श्रद्धा के सांचे में ही जीवन ढलता है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः,
यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

—गीता।

सृष्टि नाना रूप है। इसमें अनेक तत्त्व स्थूल हैं तो अनेक ऐसे भी हैं जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से साधारण मानव बुद्धि की पकड़ में नहीं आते। वे निगूढ तत्त्व रहस्यमय ही रहे और रहेंगे। हमारी बुद्धि का मन्द प्रकाश प्रदीप उन्हें प्रकाशित नहीं कर पाता, तर्क के तीक्ष्ण तीर उन्हें वेध नहीं सकते। उन्हें अतिशय ज्ञानी आप्त पुरुषों ने जाना और अनुग्रह करके प्रकाशित किया। हमें उनके साधना प्रसूत ज्ञान वैभव का लाभ उठाना चाहिए। लौकिक विषयों में यदि तत्तद् विषय के विशेषज्ञ श्रद्धापात्र समझे जा सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि लोकोत्तर विषयों में चिरकालीन मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा जिन्होंने अलौकिक ज्ञान प्राप्त किया है, उन पर विश्वास न किया जाय।

अलबत्ता, श्रद्धा जमाने से पूर्व हमें अपनी प्रज्ञा से निर्णय कर लेना होगा कि अपनी श्रद्धा का भाजन किसे बनाया जाय ? जिसमें समीचीन ज्ञान है और जो अपने राग-द्वेष आदि आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर चुका है, संक्षेप में, जो पूर्ण ज्ञानी और जिन हैं, वीतरागी हैं, उस पर श्रद्धा करने से किसी भी प्रकार प्रतारित या वंचित होने का खतरा नहीं है। निर्बल को सबल और साथ ही प्रामाणिक आप्त पुरुष का आसरा लेना ही चाहिए।

इस प्रकार निर्णय कर लेने के पश्चात् जिनोक्त तत्त्व पर प्रगाढ़ और अनन्य आस्था स्थापित कर लेना और किसी भी प्रकार का प्रलोभन या संकट सामने होने पर भी अडिग रहना निश्शंकित अंग है। यही तथ्य आगम में कहा गया है—

तमेव सच्चं णीसंकं,
जं जिणेहिं पवेइयं।

आचा० अ० ५, उ० ५, सू० १६३

वही सत्य है और वही असंदिग्ध है, जो जिन भगवन्तों ने आदिष्ट किया है।

पूर्वोक्त प्रज्ञा पूर्वक की जाने वाली श्रद्धा ही सच्ची श्रद्धा है। जिस श्रद्धा के साथ प्रज्ञा का प्रकाश नहीं होता, वह अन्ध श्रद्धा कहलाती है। अन्ध श्रद्धा में जागृति नहीं, स्फूर्ति नहीं, चेतना नहीं होती। उसमें स्थिरता की सम्भावनाएं कम होती हैं और कदाचित् स्थिरता रही भी तो वह जीवन के कल्याण को महामार्ग की ओर नहीं बढ़ने देती। वह पीछे धकेलती है। अन्ध श्रद्धा का ही परिणाम है कि हमारी और आपकी आत्मा अभी तक जन्म मरण के अनवरत प्रवाह से बाहर नहीं निकल सकी है।

भूगर्भ शास्त्री कहते हैं- हीरा और कोयला दोनों एक ही वस्तु की परिणतियाँ हैं। किन्तु दोनों में कितना अन्तर है ? एक काला और दूसरा चमकता हुआ। कोयले के स्पर्श से हाथ भी काला हो जाता है, मगर हीरा अपनी उज्ज्वल किरणें चहुँ ओर विखेरता है। इसी प्रकार श्रद्धा की एक परिणति-अन्ध श्रद्धा जीवन में कालुष्य भर देती है, जब कि दूसरी परिणति सत्य श्रद्धा जीवन को चमकदार बनाती हैं।

अन्ध श्रद्धा से ही प्रेरित होकर तापस कमठ, गंगा तीर पर पंचाग्नि तप तप रहा था। उसे देख कर भगवान् पार्श्वनाथ ने कहा था- तापस, यह अन्ध श्रद्धा है। यह तुझे भी डुबाएगी और दूसरों को भी डुबाएगी।

अभिप्राय यह है कि अन्ध श्रद्धा में विवेक का अभाव होता है और जहाँ विवेक नहीं वहाँ धर्म कहाँ ? श्रद्धा विवेक की सुपुत्री है। विवेक की छाया में ही श्रद्धा परिपुष्ट होती है। इस प्रकार की विवेकपूत समीचीन श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है।

निष्कांक्षता

भौतिक वैभव से आकृष्ट होकर मनुष्य सत्य संकल्प से पराङ्मुख हो जाता है और उसकी चकाचौंध में उसे सही साधना मार्ग तक नहीं सूझता। सांसारिक सुख सौन्दर्य का प्रलोभन मानव की मानस भूमि पर बलात् अधिकार जमा लेता है और वह उसका संवरण करने में अक्षम हो जाता है। मोह माया और ममता के बन्धनों में आबद्ध होकर आत्मधर्म से च्युत भौतिक भावों को अपनाने की इच्छा करने लगता है।

ऐसा मनुष्य कदाचित् गृह त्यागी या तपस्वी हुआ तो उसकी तपस्या या साधना का लक्ष्य भी भौतिक वैभव, ऐहिक चमत्कार और स्वर्गादि के पारलौकिक सुख होते हैं। यही जैन दर्शन की परिभाषा में कांक्षा है। सम्यग्दृष्टि में इस प्रकार की कांक्षा नहीं होती। उसे आत्मस्वरूप की संवित्ति और सम्प्राप्ति के सिवाय सभी कुछ निस्सार एवं हेय प्रतीत होता है। वह स्वकीय आनन्दमय परमात्मस्वरूप में ऐसा निष्ठावान बन जाता है कि किसी भी परभाव में उसकी रुचि नहीं रह जाती।

निर्विचिकित्सा

शुद्ध स्वात्मोपलब्धि ही साधक की साधना का एक मात्र लक्ष्य होता है। आत्मस्वरूप को आच्छादित करने वाले आवरणों का निराकरण और निवारण करने से ही आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। वह बाह्य सिद्धियों के लिए साधना नहीं करता। विश्व की समग्र सिद्धियाँ सम्यक् साधना के प्रभाव से उसके चरण चूमने के लिए सदा लालायित रहती हैं, किन्तु यथार्थदर्शी साधक के समक्ष वे तुच्छ हैं, निस्सार हैं, धूलिकण से बढ़कर उनका मूल्य नहीं है।

चिन्तामणि के बदले कौन कोयला लेना पसन्द करेगा? कदाचित् कोई पसन्द करता है तो उसे विवेकवान नहीं कहा जा सकता। उसे वज्र मूर्ख ही कहना चाहिए। लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के उद्देश्य से साधना करना चिन्तामणि के बदले कोयला खरीदना है।

कृषक धान्य के लिये कृषि कर्म करता है, भूसा और घास के लिये नहीं। वह तो धान्य के साथ आनुषंगिक फल के रूप में, अनायास ही प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार साधना के आनुषंगिक फल के रूप में लौकिक सिद्धियां स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।

बहुत से लोग साधना में प्रवृत्त हो जाते हैं, मगर उसके फल के विषय में सन्देहशील रहते हैं। शंका का शकु उनके हृदय में सदैव सालता रहता है। शंका के कारण साधना बलवती नहीं बन पाती। निर्बल एवं अधूरे मन से, लड़खड़ाती हुई भावना से की जाने वाली कोई भी साधना सफलता नहीं प्राप्त कर सकती।

'मैं जो धर्मक्रिया कर रहा हूँ, उसका फल मिलेगा या नहीं! मेरा यह कष्टसाध्य अनुष्ठान निरर्थक तो नहीं चला जाएगा।' इस प्रकार की आशंका 'विचिकित्सा' कहलाती है। इसका न होना 'निर्विचिकित्सा' है।

साधक को प्रतीति होनी चाहिये कि क्रिया और फल का अविनाभाव अखण्डित है। क्रिया की जायेगी तो उसका फल अवश्यंभावी है। हो सकता है कि किसी क्रिया के लिये अपेक्षित साधन-सामग्री अविकल न हो या पर्याप्त बलवान् न हो और इस कारण यथेष्ट फल दिखलाई न पड़े, तथापि कारण के अनुरूप कार्य की निष्पत्ति का सिद्धान्त इससे बाधित नहीं होता। साधना जितनी सबल होगी, अभिलाषा न करने पर भी उसका उतना फल अवश्य होगा। अतएव क्रिया के फल में सन्देह करने का कोई कारण नहीं। इस प्रकार का सन्देह न होना ही निर्विचिकित्सा है।

निर्विचिकित्सा का दूसरा अर्थ है—संयमपरायण मुनियों के शरीर या वेष को देख कर ग्लानि न करना। सच्चा मुनि देहाध्यास से रहित होने के कारण शारीरिक परिकर्म से भी रहित होता है। वह देह में स्थित होकर भी मानो उससे पृथक् है। शास्त्र कहता है-

अवि अप्पणो वि देहंमि नायरंति ममाइयं।

मुनि के मन में अपने देह के प्रति भी ममत्व नहीं रहता। ऐसी स्थिति में कदाचित् उनके देह या वस्त्रादि उपकरण में मलीनता दृष्टिगोचर हो तो उसकी ओर लक्ष्य न देना, घृणा भाव उत्पन्न न होना भी निर्विचिकित्सा है। मुनि के सद्गुणों पर ही दृष्टि जानी चाहिए और उन्हीं से प्रेम करना चाहिए, उन्हीं की उपासना करना चाहिए।

अध्यात्म जगत् में पौद्गलिक सौन्दर्य के लिए कोई स्थान नहीं है। विशेषतः शरीर में तो सौन्दर्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जिस शरीर की उत्पत्ति, संसार में सर्वाधिक घृणास्पद समझे जाने वाले पदार्थों से हुई है, जो मल-मूत्र आदि अशुचि का थैला मात्र है, जिसके सम्पर्क से अन्य पदार्थ भी अपावन बन जाते हैं और जो किसी भी उपाय या प्रयोग से शुचि नहीं बनाया जा सकता, उसके सौन्दर्य, संस्कार या शौच के लिए ज्ञानी जन चिन्ता नहीं करते। धर्म का एक अनिवार्य उपकरण समझ कर ही साधक उसका संरक्षण करते हैं और वह भी एक सीमा तक ही।

पल-पल पर पलटने वाले इस शरीर में सौन्दर्य ही क्या है! पुराने अनुभवी सन्त कहा करते हैं कि मानव-शरीर में पाँच करोड़, अड़सठ लाख, निन्यानवे हजार, पांच सौ आठ रोग भरे हैं। इनमें से एक भी रोग का उभार शरीर की सुन्दरता को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए पर्याप्त है। एक समय जिस शरीर के सौन्दर्य को देख कर बहिरात्मा जीव मुग्ध हो जाते हैं, स्वल्पकाल में ही वह किसी रोग से जर्जरित होकर ऐसा विकृत और घृणित बन जाता है कि उसकी ओर आँख उठाने की भी इच्छा नहीं रह जाती। ऐसी दशा में शरीर सौन्दर्य और बाह्य वेष-भूषा के पीछे पागल बन कर आत्म सौन्दर्य को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए, वरन् आत्मा की ही अलौकिक आभा

को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। मुनि के शरीर में स्थित आत्मा स्वभावतः ज्ञान दर्शन, संयम, तप, त्याग आदि गुणों का निधान है। उसकी ओर ध्यान देने से ही आपकी आत्मा में भी इन अलौकिक सद्गुणों का अरुणोदय होगा। ऐसा करने से आपके अन्तर्जगत् का अन्धकार दूर होगा और एक अपूर्व ज्योति से जीवन जगमगा उठेगा।

आचार्यप्रवर समन्तभद्र अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहते है—

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीति-र्मता निर्विचिकित्सता॥

शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है, उसकी पवित्रता रत्नत्रय से है। अतएव शरीर की ओर लक्ष्य न देकर, गुणी के शरीर से घृणा न कर गुणों से प्रेम करना निर्विचिकित्सा है।

अमूढदृष्टिता

मूढता का अभिप्राय है—अज्ञान, भ्रम, संशय, विपर्यास। जब तक मनुष्य की दृष्टि में सम्यक्त्व नहीं आता, इन दुर्गुणों से पिण्ड छूटना सम्भव नहीं और जब सम्यक्त्व की अनूठी आभा आत्मा में उद्भासित हो उठती है तो चिर कालीन या अनादि कालीन नाना प्रकार के भ्रम एवं विपर्यास आदि का धुन्धलापन टिक नहीं पाता। सम्यग्दृष्टि का दिमाग एकदम सुलझा होता है और हेय-उपादेय विषयक उसका विवेक निरन्तर जागृत रहता है। उसका निर्णय और व्यवहार सही दिशा की ओर ही झुकता है। वह ग़लत विचार से प्रेरित होकर ग़लत मार्ग पर नहीं चलता। यही सम्यग्दृष्टि की अमूढदृष्टिता है।

देखते हैं, मानव जाति के विभिन्न वर्गों में भाँति-भाँति के वहम घर करके पैठ हुए हैं। उनकी गणना करना भी सम्भव नहीं है।

तथापि जैन साहित्य में उन्हें तीन भागों में विभक्त किया गया है— (१) देवमूढता (२) लोकमूढता और (३) समयमूढता। इनमें सभी प्रकार की मूढताओं का समावेश हो जाता है।

(१) देवमूढता—काम क्रोध मद मोह आदि समस्त आत्मिक विकारों के पूर्ण विजेता (वीतराग) और अविकल ज्ञान-दर्शन आदि आत्मिक गुणों से सम्पन्न परम-आत्मा ही वास्तव में देव है। ऐसे देव ही आत्मशोधक साधक के लिए आदर्श और प्रेरणाप्रद हो सकते हैं। किन्तु इस तथ्य को न समझ कर अन्य प्रकार के देवों को, जो विकारों से मुक्त नहीं हैं, अपना आराध्य एवं उपास्य समझना और उन जैसे स्वरूप की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाना देवमूढता है।

(२) लोकमूढ़ता—स्वामी समन्तभद्र लोकमूढता की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

> आपगासागरस्नान – मुच्चयः सिकताश्मनाम्।
> गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते॥
>
> —रत्नकरण्डश्रावकाचार २२।

नदियों में या सागर में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि मानना, धर्म समझ कर पत्थरों का ढेर करना, पर्वत से गिर कर प्राणविसर्जन करना या अग्नि में जल कर मरना आदि लोकमूढ़ता है।

जब मनुष्य लौकिक रूढियों और परम्पराओं का गुलाम बन जाता है, तब सरल से सरल और सीधी से सीधी बात भी वह नहीं समझ पाता। वह रूढ़ि के सामने सर्वज्ञ के शासन को और अपने सहज विवेक को भी तिलाञ्जलि दे देता है। साम्प्रदायिक दुराग्रह भी ऐसी ही मनोदशा उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार लौकिक रूढ़ि और

साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश मानव-मस्तिष्क की चिन्तन शक्ति को अत्यन्त कुंठित कर देते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य हेय-उपादेय, उचित-अनुचित का विवेक नहीं कर पाता। किन्तु सम्यग्दृष्टि में इस प्रकार की दुर्बलता नहीं रह जाती। वह परमार्थिक दृष्टि से ही निर्णय करता है। आत्मिक श्रेयस्-अश्रेयस् की तुला पर ही उपादेय और हेय को तोलता है।

अगर आप सब प्रकार के अन्धविश्वासों से मस्तिष्क को पृथक् रख कर, सही सूझ-बूझ से वास्तविकता का निर्णय करते हैं और उस निर्णय में लौकिक रूढ़ि तथा पान्थिक कदाग्रह को हावी नहीं होने देते, तो ही आप सही निर्णय की दिशा में झुकते हैं।

इससे विपरीत, जिसकी दृष्टि में स्वच्छता नहीं आई है वह बाह्य शौच और जड़ क्रियाकाण्ड को ही आत्मशुद्धि का साधन मानता है और कहता है—

> गङ्गा-गङ्गेति यो ब्रूयाद्, योजनानां शतैरपि।
> मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं च गच्छति ॥
>
> —विष्णु पुराण।

सौ योजन दूर बैठा हुआ भी जो मनुष्य गंगा का नाम ले लेता है, उसके समस्त पाप धुल जाते हैं और वह विष्णु लोक में जा पहुँचता है।

मानव का मानसिक स्तर किस सीमा तक जा पहुँचा है, वह किस प्रकार की भूल-भुलैया में जा पड़ा है और आत्मशुद्धि के राजमार्ग से भटक कर ग़लत राह पर दौड़ रहा है! यह उद्धरण इस बात की साक्षी देता है।

करुणावरुणालय भगवान् महावीर ने सर्वतोभद्र विचार प्रस्तुत करते हुए कहा था—वाह्य शौचाचार से अन्तरतर की शुद्धि नही हो सकती। यदि आत्मा आठ मदों से मलीन है, क्रोध, मान, माया, लोभ के कालुष्य से कलुषित है तो कथित तीर्थस्थानों में जाकर प्रातः और सायं, जल में डुबकी लगाने से उसमें स्वच्छता आ जाएगी, यह धारणा अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। जल से आत्मा की मलीनता धुल सकती हो तो निरन्तर जल में विचरण करने वाले जलचर जन्तु सीधे स्वर्ग-मोक्ष में क्यों नहीं चले जाते?

उदगेण ये सिद्धि मुदाहरंति।
सायं च पायं उदगं फुसता॥
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी।
सिज्झिस्सु पाणा वहवे दगंसि॥

—सूत्रकृतांग।

तो फिर आत्मिक मैल से मुक्त होने का उपाय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए भगवान् महावीर के उपदेश को समझने की—आगम साहित्य का अवलोकन करने की आवश्यकता है। ब्राह्मण पण्डितों ने चाण्डालकुलोत्पन्न तपोमूर्त्ति हरिकेशी श्रमण से प्रश्न किया—महामुनि, आप शुद्धि के लिए किस जलाशय में स्नान करते हैं, आपका शांतितीर्थ क्या है और कहाँ स्नान करने से आत्मा कर्म-रज से मुक्त होता है? तब श्रमणसंस्कृति के उस देवदूत ने उत्तर दिया था—

धम्मे हरए, बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेस्से।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥

एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं,
महासिणाणं इसिण पसत्थं ।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा,
महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ता ॥

—उत्तराध्ययन ।

हरिकेशी कहते हैं—धर्म ही जलाशय है और ब्रह्मचर्य ही शान्ति-तीर्थ है, आत्मा के विशुद्ध भाव ही पवित्र घाट हैं, जिसमें स्नान करके मैं कर्म-रज को हटाता हूँ। ज्ञानी पुरुष ऐसा ही स्नान करते हैं। ऋषियों-महर्षियों ने इसी स्नान की प्रशंसा की है। यही कर्म-मल को दूर करने वाला सच्चा स्नान है।

महा श्रमण ने स्वल्प शब्दों में चिन्तन और मनन की कितनी सामग्री प्रस्तुत कर दी है। एक-एक वाक्य में चिरन्तन सत्य की गंगा बह रही है। आत्मिक मैल को धोने का कितना सहज और सच्चा उपाय है।

अरे मूढ़, क्यों भटकता फिरता है बाहर, सब कुछ तो तेरे भीतर भरा है। सच्चा तीर्थ तेरे अन्दर है। उसी में गोते लगा और पवित्र बन।

इसी आशय का एक प्रसंग वैदिक साहित्य में भी आता है। महाभारत युद्ध की समाप्ति के पश्चात्, युद्धजनित पापों से छुटकारा पाने के लिए ६८ तीर्थों की यात्रा करके युद्धिष्ठिर श्रीकृष्ण के पास आते हैं। तब कृष्ण ने उनसे कहा—यह बताओ, पाप का मैल शरीर पर लगा है या आत्मा पर? यदि आत्मा पर लगा है तो वह शरीर को साफ करने से किस प्रकार धुल सकता है? किन्तु तुम लोकमूढ़ता के शिकार हो रहे हो और इस कारण तुम्हारी विचारशक्ति

कुंठित हो गई है। वास्तव में, यही आत्मा आपगा है। इसमें संयम का शीतल जल भरा है, करुणा की उर्मियाँ उठ रही हैं, सत्य का प्रवाह वह रहा है। शील इसका तट है। पाण्डुपुत्र ! इसमें स्नान करने से ही आत्मा की शुद्धि हो सकती है—

आत्मा-नदी संयम-तोयपूर्णा ।
सत्यावहा शील-तटा दयोर्मिः ॥
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

—महाभारत ।

आत्मा का मैल ही वास्तविक मैल है। जब वह धुल जाता है तो फिर धोने के लिए कुछ नहीं रह जाता। एक जैनाचार्य ने कहा है—

मलमइल पंकमइला, धूलीमइला न ते नरामइला ।
जे पावकम्ममइला, ते मइला जीव लोगम्मि ॥

जिनके शरीर पर मैल चढ़ गया है, कीचड़ या धूल लग गई है, वे नर मलीन नहीं। मैले वे हैं जो पाप कर्मों से मलीन हैं।

हाँ, तो नदी-नालों में नहाने को धर्म मानना, पाषाणों का ढेर लगा कर, उसमें देवी-देवताओं की कल्पना करके, उसके सामने मस्तक रगड़ना, पहाड़ से गिर कर या अग्नि में कूद कर मरने में धर्म समझना—यह लोकमूढ़ता है।

(२) समयमूढ़ता—शास्त्र और धर्म के सम्बन्ध में होने वाली बुद्धि की भ्रान्ति या विपरीतता समयमूढ़ता है। समयमूढ़ पुरुष न धर्म सम्बन्धी वास्तविकता का निर्णय कर पाता है, न शास्त्र की

असलियत को पहचान सकता है और न यही समझ पाता है कि अपने पथ-प्रदर्शक के रूप में किसे चुना जाय—किसे गुरु बनाया जाय ?

सम्यग्दृष्टि इन सब मूढ़ताओं से विमुक्त होता है। उसका दिमाग सुलझा हुआ होता है, और विवेक जागृत होता है। वह अभ्रान्त निर्णय करता है और किसी भी प्रकार की रूढ़ि, परम्परा या वहम उसके निर्णय में बाधक नहीं होते ।

उपबृंहण

'उववूह' का संस्कृत रूप 'उपबृंह' है । 'बृंहि' धातु के साथ 'उप' उपसर्ग लगने से 'उपबृंह' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है वृद्धि करना, तरक्की करना, बढ़ाना या पोषण करना। दूसरों के सम्यक्त्व-चारित्र रूप गुणों को बढ़ावा देना, प्रशंसा करके उनकी वृद्धि में योग देना उपबृंह या उपबृंहण अङ्ग है ।

अपने गुणों का ढिंढोरा पीटना और दूसरों में अवगुणों का आरोप करना, उनका अपलाप करना, सत्पुरुष का कर्त्तव्य नहीं । भद्र पुरुष दूसरे के गुणों को देखता है, उनकी कद्र करता है प्रशंसा करता है । ऐसा करने से न केवल दूसरों के गुणों को विकसित करने की प्रेरणा मिलती है, वरन् उसके स्वयं के गुणों का भी विकास होता है ।

आचार विचार का मूर्त्त रूप है। जैसे विचार अन्तःकरण में चक्कर लगा रहे होंगे, वैसा ही आचरण होने लगेगा । अतएव विचारों के परिशोधन की ओर सर्वप्रथम ध्यान देने की आवश्यकता है ।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने से अधिक गुणवान् को देख कर उसके प्रति बहुमान, सन्मान और अनुराग प्रकाशित करे तथा उन्हें स्वयं के जीवन में भी जागृत करने का प्रयत्न करे। 'गुणिषु प्रमोदम्' का स्वर जीवन में सतत् झंकृत रहना चाहिये। गुणीजनों की प्रशंसा से पवित्र संकल्पों को बल मिलता है। हृदय में विशालता उत्पन्न होती है। सद्गुणों के प्रति उत्कट अनुराग से आत्मा में आध्यात्मिक शक्ति का अभ्युदय होता है। आदर्श के दिव्य पथ की ओर अग्रसर होने की पवित्र प्रेरणा प्राप्त होती है। अशुभ संस्कार क्षीण होते हैं। शुभ संस्कारों का बीजारोपण होता है।

गुणीजनों का सन्मान वस्तुतः गुणों का सन्मान है। गुण गुणी के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते हैं। अतएव गुणों के प्रति आदर व्यक्त करने का सही उपाय गुणी पुरुषों का आदर करना है। अगर आप चाहते हैं कि आपका जीवन सद्गुणों के सौरभ से समृद्ध बने तो आपको गुणानुरागी होना चाहिये और गुणी जनों के प्रति समादरशील बनना चाहिये।

स्थिरीकरण

जीवन में जब आपत्तियों का कुचक्र चलता है, उपसर्गों का बवण्डर उठता है, कष्टों और संकटों की विकट घाटियाँ सामने आती हैं, प्रतिकूल परिस्थितियों की पर्वतमाला में गाड़ी अटक जाती है, कठिनाइयों का तूफान भयंकर झंझावात बन कर जीवन को झकझोरता है, तब मानव की बौद्धिक शक्ति कुण्ठित हो जाती है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि सही दिशा और सही मार्ग कौन-सा है? कदाचित् सही निर्णय करने की क्षमता विद्यमान हो तो भी विवशतावश वह सही

राह पर नहीं चल पाता। उसे असत्मार्ग पर चलने के लिए लाचार होना पड़ता है। वाह्य कठिनाइयों के कारण ही नहीं आन्तरिक दुर्बलता के कारण भी कभी-कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष दूसरे को ऐसी स्थिति में देख कर और उसे पतनोन्मुख जान कर यथाशक्ति स्थिर करने का प्रयत्न करता है। मुख्य रूप से पतन दो प्रकार का है — सम्यग्-दर्शन से और सम्यक् चारित्र से। पतित होने वाला यदि दर्शन से पतित होता है तो उसे तत्त्व का वास्तविक बोध कराने से स्थिरीकरण किया जा सकता है। यदि कोई चारित्र से गिर रहा हो तो उसका कारण तलाश करके और यथोचित प्रतिकार करके स्थिर किया जा सकता है।

चार प्रकार के संघ-स्थापना की यह भी एक महत्त्वपूर्ण उपयोगिता है कि संघ के सदस्य परस्पर एक-दूसरे के दर्शन-ज्ञान-चारित्र में सहायक बनें, और एक में जब किसी कारण से दुर्बलता उत्पन्न हो तो दूसरे उसे सँभालें। चारित्र से भ्रष्ट होने को उद्यत रथनेमि मुनि को प्रातःस्मरणीय राजीमती ने स्थिर किया था। इस प्रकार संघ का प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे वर्ग और व्यक्ति को स्थिर करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझे तो संघ का अभ्युदय होता है और उस व्यक्ति का भी हित होता है।

आज हमारा श्रावकवर्ग, आर्थिक एवं सामाजिक आदि कठिनाइयों से पराजित होकर धर्म से विमुख होने वाले अपने स्वधर्मी भाइयों की स्थिरता के लिए कितना उद्यत है, इस प्रसंग

पर यह विचारणीय है । मगर इस विचार का भार मैं पाठकों के ऊपर ही छोड़ देना चाहता हूँ । हाँ, इतना अवश्य याद दिला देना चाहिए कि सच्चा सम्यग्दृष्टा अपने स्वधर्मी बन्धु के पतन को देखकर निश्चेष्ट नहीं रह सकता। अगर कोई निश्चेष्ट रहता है और उसके स्थिरीकरण के लिए अपनी शक्ति के अनुसार भी प्रयास नहीं करता तो सोचना होगा कि वास्तव में वह स्थिरीकरण आचार का पालन नहीं कर रहा है।

संक्षेप में यह कि आध्यात्मिक जीवन की महत्ता को विस्मृत करके पवित्रता और उच्चता से पराङ्मूख होते हुए प्राणी को स्थिर करना ही स्थिरीकरण है । यह अंग स्व-पर दोनों का समान रूप से उपकारक है ।

व त्सलय

मानव जीवन में एक विशिष्ट वृत्ति निहित है, जिसे सामाजिकता का भाव कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। इसी वृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य ने परिवार, ग्राम. नगर, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया है । नितान्त एकान्त जीवन व्यतीत न कर सकने के कारण, सुख - दुख में सहानुभूति और संवेदना प्राप्त करने के लिए, मानव मानव से प्रेम करता है। विशेपत: 'समानशीलव्यसनेपु सख्यं' अर्थात् समान आचार - विचार और समान आदत वालों में प्रीति होती है, इस उक्ति के अनुसार वह अपने समानधर्मी के प्रति स्नेहवान् होता है ।

इस प्रकार के प्रेम के अभाव में मानव-जीवन टिक नहीं सकता । हम पारस्परिक सहयोग और सहकार के बल पर ही जीवन यापन कर सकते हैं । मानवजीवन का आधार 'परस्परोपग्रह' ही है ।

श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—स्वधर्मियों के प्रति, सद्गुण सद्गुणियों के प्रति, निष्कपट भाव से प्रीति रखना और यथोचित अशन, पान आदि से उनकी सेवाशुश्रुषा करना वात्सल्य है—

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथा योग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते ।।

सांसारिक प्रेम प्रायः स्वार्थलिप्सा के आधार पर अंकुरित होता, पनपता और फलता-फूलता है। वह ऊपर से चाहे जैसा दृष्टिगत हो, मगर उसके भीतर स्वार्थ भावना अठखेलियाँ करती होती है। और जब उसका उद्गम ही स्वार्थ से होता है तो वह तभी तक टिकता है जब तक उसे स्वार्थपूर्ति का जल मिलता रहे। ज्यों ही स्वार्थ में व्याघात उपस्थित हुआ कि वह प्रेम भी अदृश्य हो जाता है। किन्तु वात्सल्य शब्द से अभिहित होने वाला प्रेम इस कोटि का नहीं होता। उसमें स्वार्थलिप्सा की मलीमसता नहीं होती। वह निःस्वार्थ और पावन होता है।

स्वधर्मी के प्रति किया जाने वाला प्रेम वास्तव में धर्मप्रेम का ही एक अंग है। उसका आधार निकृष्ट स्वार्थ नहीं होता। जिसके अन्तःकरण में धर्म-शासन के प्रति अनुराग होता है, वह धार्मिक के प्रति अनुराग व्यक्त किये बिना रह ही नहीं सकता।

वात्सल्य-अंग संघ का प्राण है। इसके अभाव में किसी भी सजीव संघ की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने सधर्मिक से उसी प्रकार प्रेम करता है, जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से। गाय बछड़े के संकट के अवसर पर दर्शक की भाँति, निष्क्रिय होकर खड़ी नहीं रहती। उसकी रक्षा के लिए वह अपने प्राणों को भी जोखिम में डाल

देती है। सच्चा सम्यग्दृष्टि भी अपने स्वधर्मी के लिए कुछ उठा नहीं रखता।

प्रभावना

सम्यग्दृष्टि साधक का जीवन साधारण नहीं होता। वह सदाचार से सुवासित होता है। सद्विचार के सरस और सुन्दर सौरभ से ओतप्रोत होता है। उसके जीवन की महकती गंध मानव-मन को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। जो भी उसके सम्पर्क में आता है, अनूठे आनन्द और माधुर्य का अनुभव करता है। उसका जीवन मूक रूप में दूसरों को प्रेरणा देता है— मानव ! तू फूल बन और संसार में अपने सरस सौरभ को विकीर्ण कर। यही तेरी जीवन की सार्थकता है -

> फूल बन कर महक, तुझे जमाना जाने,
> तेरी भीनी-भीनी महक; अपना औ विगाना जाने ॥

जीवन की दिव्यता और महत्ता इसी सूत्र में निहित है; न विषयवासना को चरितार्थ करने में और न स्वार्थलिप्सा की आहुति बनने में।

किसी जिज्ञासु ने एक सन्त के समक्ष अतिशय छोटा किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया–'किं जीवितम् ?' अर्थात् जीवन क्या है ?

सन्त बोले—'दोष विवर्जितं यत्'। सच्चा जीवन वह है जो दोष शून्य हो; जिसमें विकारों की कालिमा न हो।

इस प्रकार स्वयं निर्विकार जीवन यापन करने वाला ही दूसरों के समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित कर सकता है। वही

उस धर्म का, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, उद्योत कर सकता है। अपने विचार और आचार के द्वारा, साथ ही जो भी अन्य विशिष्ट योग्यता या शक्ति प्राप्त हो, उसके प्रयोग द्वारा सद्धर्म एवं सन्मार्ग के प्रभाव का प्रसार करना ही प्रभावना आचार है।

साधारण जनता स्थूलदृष्टि होती है। वह धर्म के मर्म की गहराई तक नहीं पहुँचती। तत्त्वों के तलस्पर्शी ज्ञान की अपेक्षा उससे नहीं की जा सकती। उसके लिए तो किसी धर्म के अनुयायियों का व्यवहार ही उसके धर्म की कसौटी होता है। ईसाई धर्म के कोटि-कोटि-संख्यक अनुयायी उस धर्म के तत्त्वज्ञान से आकृष्ट होकर नहीं बने। ईसाइयों के व्यवहार ने ही उन्हें उस धर्म की ओर आकृष्ट किया है। इस तथ्य को आज संजीदगी के साथ समझ लेने की आवश्यकता है। आपका प्रत्येक जीवन व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि उसे देखकर ही लोग आपके धर्म की महत्ता का अनुभव करें और धर्म से प्रभावित हों।

किन्तु धर्मप्रभावना का क्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं होता। आज जैनधर्म के विषय में विश्व के साक्षरों को भी अत्यल्प जानकारी है और कतिपय भूभाग तो ऐसे भी होंगे जहाँ जानकारी है ही नहीं। यह जैनधर्म के अनुयायियों की उपेक्षा और प्रमाद-प्रचुरता का प्रतीक नहीं तो और क्या है ?

जैनधर्म का तत्त्वज्ञान उच्चतम कोटि का है। उसकी आधार शिला चट्टान की भाँति सुदृढ़ है। आध्यात्मिक एवं भौतिक जगत् का उसका विश्लेषण बुद्धि एवं विज्ञान दोनों से निर्णीत और अपूर्व है, किन्तु आज हम उसे विश्व की भाषा में, युग का

वाणी और शैली में उपस्थित नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि संसार उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा पाता। वह दिव्य निधान अनजाना-सा पड़ा है।

प्रभावना—आचार की यह प्रेरणा है कि जिनशासन के माहात्म्य को संसार के समक्ष उपस्थित किया जाय और दिव्यद्रष्टाओं के तत्त्वज्ञान का प्रकाश सर्वत्र फैलाया जाय।

सम्यग्दृष्टि पुरुष शासनप्रभावना के किसी अवसर को वृथा नहीं जाने देता। वह तन से, मन से, धन से, वचन से, प्रवचन से, अध्यापन से तथा जिस प्रकार भी संभव हो, प्रत्येक साधन से जिनशासन की महिमा का विस्तार करता है। यही उसका प्रभावना अंग या आचार है।

ये आठ गुण अन्तश्चेतना को जागृत कर आत्मिक शक्तियों को प्रबल बनाते हैं और विशेष रूप से सम्यग्दर्शन को समृद्ध और पुष्ट करते हैं।

**

जीवन दृष्टि की मलीनताएँ

अतिचार

'अतिचार' शब्द का अर्थ है—मर्यादा का उल्लंघन करके वर्त्ताव करना। अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपने अनियंत्रित जीवन को नियंत्रित करने के लिए जो मर्यादा या व्रत-नियम अंगीकार किया है, और उसी के अनुसार जीवन व्यवहार करने का संकल्प किया है, उसका आंशिक रूप में भंग हो जाना अतिचार है।

आंशिक रूप में भंग हो जाने का भी एक विशेष अभिप्राय है। जैनाचार्यों ने स्वीकृत व्रत के भंग को चार कोटियों में बांटा है—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। व्रतभंग की बुद्धि उत्पन्न होना अतिक्रम है और उसके लिए साधनसामग्री जुटाने का प्रयास करना व्यतिक्रम है। व्रती यह समझता हो कि मैं अपना व्रत भंग नहीं कर रहा हूं, इस क्रिया से मेरा व्रत खण्डित नहीं हो रहा है, किन्तु उसकी वह क्रिया वास्तव में व्रत की मर्यादा से बाहर हो और उससे व्रत में किसी प्रकार की त्रुटि उत्पन्न होती हो, तो उसकी वह क्रिया अतिचार की कोटि में आती है। इससे भी आगे बढ़कर जब व्रती जान-बूझकर, व्रत की रक्षा की भावना से निरपेक्ष होकर कोई व्रतविरुद्ध आचरण करता है, तब वह आचरण 'अनाचार' की कोटि में परिगणित होता है।

यद्यपि यह चारों कोटियाँ सामान्य रूप से अतिचार कहलाती है, तथापि व्रतभंग की तरतमता को विशेष रूप से समझने के उद्देश्य से इनका विभागोपदर्शन किया जाता है।

स्मरणीय है कि व्रत एक प्रकार का संयम है और वह आत्मा के निश्रेयस् के लिए इच्छापूर्वक अंगीकार किया जाता है। संयम बलात् आरोपित नहीं किया जाता और न किया ही जा सकता है। अतएव साधक की नैतिकता सर्वतोभावेन व्रतसंरक्षण में ही है तथापि कदाचित् भ्रान्ति से, कदाचित् प्रलोभन से, कदाचित् क्रोध या द्वेष से, और कदाचित् परिस्थिति की विषमता से, ऐसा अवसर आ जाता है कि व्रत की पूरी तरह रक्षा नहीं हो पाती और ऐसा कार्य हो जाता है जो व्रत की सीमा का कुछ उल्लंघन करता है। वही अतिचार कहलाता है।

व्रत के उल्लंघन के तारतम्य एवं प्रकार किसी नियत संख्या में आबद्ध नहीं है। वह अनियत और अगणित हैं। तथापि स्थूल रूप में उनका ऐसा वर्गीकरण कर दिया गया है, जिनमें सभी अतिक्रमणों का समावेश हो जाय।

सम्यग्दर्शन के अतिचार पांच हैं। यहाँ उन्हीं पर संक्षेप में विचार करना है।

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक आनन्द को लक्ष्य करके कहा—

'एवं खलु आणंदा, समणोवासएणं अभिगयजीवाजीवेणं... सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहासंका, कंखा, विइगिच्छा, परपासंड पसंसा, परपासंडसंथवे।

—हे आनन्द ! जीव-अजीव के स्वरूप को जानने वाले श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के पाँच अतिचार जानने चाहिए, किन्तु उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे अतिचार ये हैं— (१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) परपाषण्डप्रशंसा और (५) परपाषण्डसंस्तव।

यह पाँच अतिचार सम्यक्त्व में मलीनता उत्पन्न करते हैं। यदि प्रारंभ में ही इन्हें न रोक दिया जाय तो ऐसी स्थिति आ सकती है कि बढ़ते-बढ़ते ये दोष समूचे सम्यक्त्व को ही निगल जाएँ। अतएव सम्यग्दृष्टि को यह सावधानी रखनी चाहिए कि जीवन में इनका प्रादुर्भाव ही न होने पाए।

शंका

शंका जीवन की महान् दुर्बलता है। इसके रहते जीवन का सम्यक् रूप से विकास नहीं हो पाता। लड़खड़ाते कदमों से कोई कितना चल सकता है? जब मंजिल दूर हो और बहुत ऊँचाई पर हो, तब दृढ़ क़दम ही काम दे सकते हैं।

शंका संकल्प में दृढ़ता नहीं आने देती। संकल्प की दृढ़ता के बिना लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए अपेक्षित आवश्यक आन्तरिक बल प्राप्त नहीं होता और बल के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि हम अपने साध्य और साधनों पर पूरा विश्वास लेकर चलें और अन्तःकरण के किसी भी प्रदेश में शंका को अवकाश न दें।

जब तक जिनोक्त तत्त्वों पर शंका बनी रहेगी, जीव अध्यात्मसाधना के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। शंका विवेक शक्ति और

विश्वास को नष्ट करने के लिए कुठार से कम नहीं है। वह सम्यक्त्व को नष्ट करती है।

श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को, कुरुक्षेत्र के मैदान में संशय से होने वाली हानि प्रकट करते हुए कहा था—'संशयात्मा विनश्यति' जो आत्मा संशय में पड़ा रहता है, उसका विनाश होता है।

द्विविध शंका

इस प्रसंग पर एक वात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। जव हम जैनागमों के पन्ने पलटते हैं तो सूर्य के समान चमकती हुई दो महान् विभूतियाँ अनायास ही हमारी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाती हैं एक प्रश्नकार के रूप में और दूसरी उत्तरदाता के रूप में। इन्हें हम गौतम स्वामी और भगवान् श्री महावीर के रूप में पहचानते हैं। गौतम स्वामी के ३६ हजार प्रश्न तो अकेले भगवतीसूत्र में ही अंकित हैं। इसके अतिरिक्त भी आगम साहित्य का अधिकांश भाग इनके प्रश्नोत्तरों के रूप में है।

प्राचीन आचार्यों ने तीर्थंकर के प्रवचनों को दो भागों में विभक्त किया है—पुट्ठवागरणा अर्थात् प्रश्न उपस्थित होने पर उसके समाधान के रूप में की जाने वाली विवेचना; और अपुट्ठवागरणा अर्थात् विना पूछे ही की जाने वाली प्ररूपणा। आपको ज्ञात होना चाहिए कि भगवान् महावीर स्वामी की अपृष्ठव्याकरणा की अपेक्षा पृष्ठव्याकरणा अधिक है।

गौतम स्वामी के चित्त में, जव कभी किसी तत्त्व के विषय में, सन्देह उत्पन्न होता था, वे श्रमण भगवान् महावीर के श्री चरणों में पहुँचते और यथोचित प्रतिपत्ति के पश्चात् उस सन्देह को निवेदन करते थे। इस सम्वन्ध में शास्त्रों में गौतम स्वामी के

लिए 'जायसंसए' 'संजायसंसए' और 'उपण्णसंसए' विशेषणों का प्रयोग किया गया है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार का संशय क्या सम्यक्त्व के अतिचार की कोटि में है ? क्या सम्यग्दर्शन का विघातक है ?

इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में ही दिया जाएगा। शंका दो प्रकार की होती है—श्रद्धा मूलक और अश्रद्धामूलक। जिस शंका के गर्भ में श्रद्धा छिपी होती है और जो केवल जिज्ञासा के रूप में ही व्यक्त की जाती है, वह सम्यक्त्व का अतिचार नहीं है। मगर अश्रद्धामूलक शंका की बात निराली है। उसमें जिज्ञासा नहीं, अविश्वास ही प्रधान होता है। अतएव वह समकित का अतिचार है।

श्रद्धा और तर्क का समन्वय

कुछ लोग समझते हैं कि श्रद्धा एक प्रकार की मानसिक सुषुप्ति है। उसमें बुद्धि एवं विचार का अवकाश नहीं है। जो जी में आया, मान लिया और उसी से चिपट गये। इस प्रकार की श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

किन्तु जैनधर्म ऐसी श्रद्धा का समर्थन नहीं करता। उसकी सुस्पष्ट उद्घोषणा है—'पन्ना समिक्खए धम्मं' अर्थात् प्रज्ञा से, तर्क बुद्धि से, धर्म की परीक्षा करनी चाहिए।

तथ्य यह है कि इस विराट् विश्व में असीम विविधता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल तत्त्वों के समूह का नाम जगत् है। इसमें बहुत-से तथ्य ऐसे हैं जो हमारी बुद्धि की परिधि में आते हैं तो बहुत से ऐसे भी हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म एवं रहस्यमय होने के कारण हमारी मति द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। उन्हें समझने के लिए

जिस अलौकिक दृष्टि की आवश्यकता है, वह हमें प्राप्त नहीं है। उसे प्राप्त करने के लिए जितनी साधना अपेक्षित है, वह हमारे जीवन में आई नहीं है। मनुष्य अपने बुद्धि वैभव का कितना ही अभिमान करे, परन्तु वास्तव में उसका दायरा अत्यन्त संकीर्ण है। उसकी इन्द्रियाँ, जिनके बलपर वह इतराता है, कितना-सा ज्ञान पाती हैं। रहा मन सो वह बेचारा इन्द्रियों का ही अनुगामी है। ऐसी स्थिति में अगर कोई पुरुष यह मान बैठता है कि मैंने सभी कुछ जान लिया है और जो नहीं जाना, वह है ही नहीं; तो वह दया का पात्र है।

इस प्रकार का अहंकार उसकी और समग्र मानव जाति की प्रगति में बाधक बनता है। अपने अज्ञान की विनम्र स्वीकृति से मनुष्य की प्रगति की संभावना की जा सकती है; मगर जो मनुष्य अपने अत्यल्प ज्ञान को ही पराकाष्ठा का ज्ञान मान लेता है, वह अपनी प्रगति की समग्र संभावनाओं में पलीता लगा देता है।

अभिप्राय यह है कि जगत् के जो तत्त्व बुद्धिगम्य हैं, उन पर तर्क से विचार करना उचित है। मगर जो रहस्यमय तत्त्व मानवमति से अगोचर हैं, उनके विषय में आप्त पुरुषों के कथन पर श्रद्धा रख कर ही चलना चाहिए। हाँ, युक्ति, प्रमाण और तर्क के द्वारा हमें आप्तता के विषय में अवश्य आश्वस्त हो लेना चाहिए। इस प्रकार श्रद्धा और तर्क के उचित एवं विवेकपूर्ण समन्वय से ही हम यथार्थ बोध के अधिकारी बन सकते हैं।

जहाँ कुछ लोग एकान्त तर्कवाद की हिमायत करते हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो एकान्त श्रद्धा वादी होते हैं। मगर विवेकविकल श्रद्धा अन्धश्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा में चैतन्य नहीं होता। अन्धश्रद्धा के

द्वारा हेय–उपादेय का, ग्राह्य-अग्राह्य का बुद्धिसंगत अन्तर नहीं समझा जा सकता। उसमें दंभ, आडंबर एवं पाखण्ड को देख कर फिसल जाने की संभावनाएँ बनी रहती हैं किन्तु जो कसौटी पर कस कर सत्य को स्वीकार करता है, वह प्रतारित नहीं किया जा सकता, वह सभी समस्याओं और जटिल से जटिल प्रश्नों का उचित समाधान करता हुआ अपने मार्ग पर स्थिर रहता है।

इस प्रकार जीवन में तर्क की भी आवश्यकता है, किन्तु भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित तर्क–प्रज्ञा–और आज के एकान्त बुद्धिवादी मानव के तर्क में दिन-रात का अन्तर है। आधुनिक बुद्धिवादी श्रद्धा के क्षेत्र को और महत्त्व को स्वीकार नहीं करता। वह तर्कातीत तत्त्वों पर भी तर्क के तीर छोड़ता है और जब वे लक्ष्य पर नहीं पहुँचते तो उनके अस्तित्व को ही अस्वीकार कर बैठता है। वह श्रद्धागम्य प्रदेश को बुद्धिगम्य बनाने की निष्फल चेष्टा करता है और धोखा खाता है।

उचित यही है कि जीवन में श्रद्धा और तर्क का समुचित समन्वय हो। जो ज्ञेय तर्क की परिधि के अन्तर्गत हों, उन्हें तर्क की तुला पर तोला जाय और जो तर्क की पहुँच से बाहर हैं, जो साधनाजनित लोकोत्तर ज्ञान के द्वारा ही जाने जा सकते हैं, उन पर अविचल श्रद्धा रक्खी जाय और आप्त पुरुषों के उपदेश को प्रमाणभूत मान कर चला जाय। इस प्रकार के समन्वय से जीवन में जागृति आती है और आन्तरिक बल की वृद्धि होती है। जिस तर्क के पीछे श्रद्धा का बल होता है, वह सम्यक्त्व का आभूषण बनता है और जिसके पीछे श्रद्धा का बल नहीं, वह सम्यक्त्व का दूषण है।

गौतम स्वामी के हृदय में शंका उत्पन्न होती थी, पर उस शंका के पीछे आस्था की अविचल भूमिका थी, श्रद्धा के दिव्य दीपक का प्रकाश जगमगाता रहता था। शंका का समाधान प्राप्त होने पर उनके अन्तरतर से अनायास ही यह ध्वनि निकल पड़ती थी—

'सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं,
पत्तियामि णं भंते ! निग्गथं पावयणं,
रोएमि णं भंते ! निग्गथं पावयणं,
तहमेयं भंते ! अवितहमेय भंते !
इच्छियमेयं भंते ! पडिच्छियमेयं भंते !
इच्छियपडिच्छियमेयं भंते !
से जहेयं तुब्भे वयह ।'

—उपासक, अ. १, सू. १२.

अर्थात्—भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर प्रतीति करता हूँ। भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर रुचि करता हूँ। भगवन् ! निर्ग्रन्थप्रवचन तथ्य है, अवितथ्य है, मुझे इष्ट है, अभीष्ट है, इष्टाभीष्ट है; जैसा आप कहते हैं वैसा ही है।

यह हैं सच्चे साधक के हृदय के उद्गार। जहाँ इतनी गाढ़ी श्रद्धा है, वहाँ सम्यक्त्व में न्यूनता या मलीनता के लिए कोई अवकाश नहीं हो सकता। इस प्रकार की मनोभूमिका की विद्यमानता में प्रस्तुत की जाने वाली शंकाएँ सम्यग्दर्शन की बाधक नहीं, वर्द्धक ही होती हैं। श्रद्धालुओं की शंकाएँ, विषय को विशद और स्पष्ट करने के लिए होती हैं। गौतम स्वामी के प्रश्नों का यह सुपरिणाम है कि विराट् आगम-साहित्य की अनमोल सम्पत्ति हमें विरासत में मिल सकी।

कांक्षा

सम्यग्दर्शन को मलीन बनाने वाला दूसरा अतिचार 'कांक्षा' है। कांक्षा का सामान्य अर्थ है–इच्छा या अभिलाषा; किन्तु इस प्रसंग में कांक्षा शब्द का पारिभाषिक अर्थ ही ग्राह्य है। कांक्षा अतिचार का अभिप्राय है—पाखण्डियों के आडम्बर या दंभ से आकृष्ट होकर; अपने सच्चे आत्मशोधक पथ से विचलित होकर उनके पथ पर चलने की अभिलाषा जागृत होना, बहिर्मुख साधना से उत्पन्न हुई विभूतियों की चकाचौंध में अपने आध्यात्मिक पथ से डिग कर उनकी ओर झुकने की मनोवृत्ति उत्पन्न होना।

मानव-मन अतीव चपल है। साधना के पथ पर चल पड़ने पर और अनेक प्रकार की साधनाओं द्वारा सँभालने पर भी वह जल्दी वशीभूत नहीं होता। अनादिकालीन संस्कार उस पर अपना रंग जमाये रहते हैं और उसे पथभ्रष्ट करने का अवसर देखते रहते हैं। साधक जरा भी असावधान हुआ और उन संस्कारों ने हमला किया। तत्काल सँभल गया तो ठीक, अन्यथा कुशल नहीं। वे कुसंस्कार बलवत्तर होकर उसे ग़लत दिशा में ले जाते हैं।

बड़े-बड़े तपस्वी और योगी भी इन कुसंस्कारों के वशवर्ती होकर अपने लक्ष्य को भूल कर लौकिक चमत्कारों और एषणाओं के प्रलोभन में पड़ जाते हैं। सांसारिक चमत्कार और स्वर्गीय सुख ही उनका ध्येय बन जाता है। ऐसी स्थिति में उनकी दशा उस कृषक के समान हो जाती है जो कठोर श्रम करके भी धान्य के बदले भूसा ही पाता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने साधकों को सावधान करते हुए कहा था—

> नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,

नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ निज्जरठ्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा !

—दशवैकालिक, अ. ६,

साधक इहलोक संबंधी लाभ के लिए तप न करे, परलोक सम्बन्धी लाभ के लिए तप न करे, कीर्त्ति, यश या प्रशंसा के लिए तप न करे; तप करे एक मात्र कर्मनिर्जरा के लिए।

कामना, अभिलाषा, मूर्च्छा, लोभ, आसक्ति, लोकैषणा आदि कांक्षा के अनेक रूप हैं। बड़ी कठिनाई यह है कि किसी कामना की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है तो उसकी पूर्त्ति होते न होते अन्य अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं अथवा वही एक कामना भस्मासुर की तरह अपना स्वरूप विस्तार करती जाती है। ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है, वल्कि लाभ ही लोभ-वृद्धि का कारण बन सकता है—

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवड्ढई।

—उत्तरा. अ. ८-गा. १७

इस प्रकार कामना की पूर्त्ति में तत्पर हुआ पुरुष न कामना की पूर्त्ति कर पाता है, न पूर्त्तिजन्य तृप्ति का रसास्वादन कर सकता है और न जीवन के ऊँचे ध्येय को सम्पन्न करने में समर्थ हो पाता है। प्रत्युत अतृप्तिजन्य आकुलता की आग में जलता हुआ अपने भविष्य को दुःखमय बनाता है।

इस तथ्य को जान कर जिसने लालसा का त्याग कर दिया, वही ज्ञानी है और उसे तत्काल ही सन्तोष-सुधा के पान करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है कि वह वीतरागोपदिष्ट मार्ग से विरुद्ध किसी मार्ग की अभिलाषा न करे और अपने सम्यक्त्व को निर्मल रक्खे।

विचिकित्सा

सम्यग्दर्शन का तीसरा अतिचार विचिकित्सा है। आठ अंगों के विवेचन में, निर्विचिकित्सा अंग का विवेचन करते हुए, विचिकित्सा का अर्थ बतलाया जा चुका है। वही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। तथापि सम्बन्ध-निर्वाह की दृष्टि से संक्षेप में उसका उल्लेख कर देना उचित है।

विचिकित्सा का अर्थ है—फलप्राप्ति में सन्देह करना। मैं व्रतों और नियमों का जो पालन कर रहा हूँ, उसका फल मिलेगा अथवा नहीं ? इस प्रकार की डगमगाती चित्तवृत्ति विचिकित्सा है।

मतविभिन्नता को देखकर, निर्णायक बुद्धि के अभाव के कारण, ऐसा समझना कि यह भी ठीक है और वह भी ठीक है, इस प्रकार की बुद्धि की अस्थिरता भी विचिकित्सा के अन्तर्गत है।

मुनिजनों की आन्तरिक पवित्रता एवं उज्ज्वलता की ओर न देखकर, शारीरिक मलीनता को ही देखना और मन में ग्लानि लाना भी विचिकित्सा है। सम्यग्दर्शनी के लिए यह भी अतिचार है।

परपाखण्ड प्रशंसा

परपाखण्ड संस्तव

यह सम्यग्दर्शन के चौथे-पाँचवें अतिचार हैं। इनका क्रमशः अर्थ है—मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना और परिचय करना।

मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करने से मिथ्यात्व की प्रशंसा होती है और उसकी संगति करने से संगति करने वाले में मिथ्यात्व की उत्पत्ति की संभावना रहती है। सब साधक एक-से प्रौढ़ नहीं होते, तत्त्व-निष्णात नहीं होते, अतएव वे विरोधी संसर्ग से पथभ्रष्ट हो सकते हैं। उनका हित और बचाव इसी में है कि वे ऐसे प्रतिकूल परिचय और प्रभाव से दूर रहें। सूरदास कहते हैं—

> जाके संग कुमति उपजत है,
> परत भजन में भंग,
> तजो रे मन ! हरिविमुखन को संग।
>
> —सूरसागर

हे मन ! जिनकी संगति से कुबुद्धि उत्पन्न होती है, और प्रभु के भजन में विघ्न उपस्थित होता है, उसकी संगति मत कर। क्योंकि—

> संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।

अच्छी एवं अनुकूल संगति गुणों को उत्पन्न करती है और कुसंगति दोषों को उत्पन्न करती है।

निष्णात, प्रौढ़ और तपे हुए साधक दुर्जनों, पथभ्रष्टों और मिथ्यादृष्टियों को भी सन्मार्ग पर ला सकते हैं। केशी स्वामी के सम्पर्क में आने से ही राजा प्रदेशी[1] सन्मार्ग पर आया था। यदि केशी स्वामी प्रदेशी से दूर ही दूर रहे होते तो उसकी आत्मा का उद्धार होना कठिन ही था। अतएव ऐसे समर्थ साधक अपवाद हैं। सामान्य साधक के लिए तो मिथ्यादृष्टि के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर

१ राजप्रश्नीय

स्वयं ही भ्रष्ट हो जाने की संभावना रहती है। यही इन अतिचारों के विधान का हेतु है।

गुलिश्तां में शेख सादी साहब इसी तथ्य को इन शब्दों में पेश करते हैं—'फरिश्ता (देवदूत) शैतान के साथ रहने लगे तो वह भी कुछ दिनों में शैतान बन जाएगा।'

महाभारत में व्यासजी कहते हैं—

> यादृशैः सन्निविशते,
> यादृशांश्चोपसेवते ।
> यादृगिच्छेच्च भवितुं
> तादृग् भवति पूरुषः ॥

मनुष्य जैसे मनुष्यों की संगति में रहता है, जैसों की सेवा करता है तथा जैसा बनना चाहता है, वैसा ही बन जाता है।

वस्तुतः संसर्ग से गुण उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी होते हैं। अतएव मनुष्य के लिए आवश्यक है कि उसने अपना जो लक्ष्य निर्धारित किया है और उसकी प्राप्ति के लिए जो साधन चुने हैं, उनके प्रति एकनिष्ठ बने रहने के लिए वह ऐसे लोगों की प्रशंसा एवं परिचय से बचता रहे, जिनके सम्पर्क से उसके चित्त में दुविधा उत्पन्न हो, विक्षेप हो, अनास्था हो, चंचलता हो।

इस कथन का आशय यह नहीं है कि जो साधक परिपक्व हो चुके हैं, वे असन्मार्गगामी जनसमूह को सन्मार्ग पर लाने के लिए भी उनके सम्पर्क में न आवें। यह बात ऊपर कही जा चुकी है। साधना की प्राथमिक स्थिति में चलने वाले साधकों को खास तौर पर इन अतिचारों से बचना चाहिए।

अतिचारों के विषय में श्रीमद् उपासकदशांग में इस प्रकार पाठ मिलता है—'पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा' अर्थात् पाँचअतिचार ज्ञातव्य तो हैं परन्तु आचरणीय नहीं।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि जिसका आचरण ही नहीं करना है, उसे जानने से क्या लाभ है ? परन्तु हेय पदार्थ भी ज्ञेय होता है। जिसे हम जानेंगे नहीं, उसके दुष्परिणाम से अपरिचित रहेंगे और उसके त्याग की आवश्यकता भी अनुभव नहीं कर सकेंगे। कदाचित् अनजाने, देखादेखी या किसी के कहने मात्र से, त्याग कर भी दिया तो उस त्याग में संकल्प का बल नहीं होगा। ऐसा त्याग निष्प्राण होगा। अतएव त्याज्य वस्तु के दोषों को भी उसी प्रकार समझना चाहिए, जिस प्रकार ग्राह्य वस्तु के गुणों को समझना आवश्यक है। इसी दृष्टि कोण से अतिचार भी 'जाणियव्वा' हैं। जो सम्यग्दृष्टि अतिचारों को भलीभाँति समझता है, वह सरलता से उनसे बच सकता है।

साधना का मूलाधार

साधना के क्षेत्र में सम्यग्दर्शन की जो महत्ता है, उसके संबंध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। आध्यात्मिक जैनसाहित्य में सम्यग्दर्शन का अत्यन्त विस्तृत, विशद, बारीक और हृदयस्पर्शी वर्णन हमें मिलता है। उस सब को आपके सामने प्रस्तुत करना शक्य नहीं है। आपके समक्ष तो कतिपय मूलभूत विषय ही रक्खे गये हैं। फिर भी कुछ अत्यावश्यक ज्ञातव्य विषय ऐसे हैं, जिनकी चर्चा यदि न की जाय तो सम्यग्दर्शन सम्बन्धी निरूपण अधूरा ही रह जाएगा। अतएव इस प्रकरण में ऐसे विषयों पर संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाएगा जो चर्चा करने से रहगये हैं। यद्यपि इसका आशय यह नहीं कि इतने मात्र से सम्यग्दर्शन के निरूपण में पूर्णता आ जाएगी।

उत्पत्तिक्रम

जैनधर्म का यह दावा है कि संसार का प्रत्येक जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से सिद्ध, बुद्ध परमात्मरूप है। प्रत्येक आत्मा में समान अनन्त ज्ञान-दर्शन की प्रखर ज्योति विद्यमान है। साधारण संसारी आत्मा और सिद्ध परमात्मा में जो अन्तर आज दृष्टिगोचर होता है, वह नैश्चयिक नहीं, व्यावहारिक है; पारमार्थिक नहीं,

अपारमार्थिक है; स्वाभाविक नहीं, वैभाविक है। यह अन्तर आवरण की विद्यमानता और अविद्यमानता के कारण उत्पन्न हुआ है। संसारी आत्मा आवरणों से ग्रस्त है। उसकी सहज शक्तियाँ कर्मावरणों से आच्छादित हो रही हैं। सिद्ध भगवान् सर्वथा आवरणविहीन हो चुके हैं। उनकी स्वाभाविक शक्तियाँ अपने असली रूप में प्रकाश में आचुकी हैं। यही अन्तर का कारण है। इस कारण के दूर होने पर आत्मा परमात्मा ही है।

आवरणों में सब से प्रबल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से जीव की रुचि विपर्यस्त हो जाती है। जैसे मदिरा के नशे से बेभान मानव को होशहवास नहीं रहता और उसकी विचारधारा विपरीत बन जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के प्रभाव से जीव की रुचि विपरीत हो जाती है। जैसे पित्तज्वरग्रस्त पुरुष को मधुर पदार्थ भी कटुक प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्वग्रस्त जीव भी, दृष्टिविपर्यास के कारण हित को अहित और अहित को हित मानता है। आध्यात्मिक दृष्टि से जीव की यह निम्नतम दशा है।

विश्व के अनन्तानन्त जीव इसी निम्नतम दशा में अनादि काल से पड़े हुए हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो एक बार मिथ्यात्व के गहन अंधकार से निकल कर प्रकाश में आये, मगर वह प्रकाश स्थायी न रहा और वे पुनः उसी अन्धकार में निमग्न हो गये। ऐसे जीव, अनादि मिथ्यादृष्टि जीवों की अपेक्षा बेहतर स्थिति में है, क्योंकि वे एक सीमित समय में, भले ही वह लम्बा हो, निश्चित रूप से पुनः सम्यक्त्व के प्रकाश में आएँगे; मगर अनादिकालीन मिथ्यादृष्टियों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उनमें से कोई सम्यक्त्व की ज्योति प्राप्त कर सकते हैं और कोई सदा काल ही संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे।

प्रश्न हो सकता है, आखिर सम्यक्त्व की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न पर पिछले एक प्रकरण में किंचित् प्रकाश डाला जा चुका है, महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय होने से यहाँ उसी का स्पष्टीकरण कर देना उचित है।

साधारणतया सम्यक्त्व की प्राप्ति के मुख्य प्रकार दो हैं—निसर्ग और उपदेश। निसर्ग से अर्थात् गुरु आदि के उपदेश के बिना ही उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन 'निसर्गज' कहलाता है और गुरु आदि के हितोपदेश रूप निमित्त से उत्पन्न होने वाला 'अधिगमज' शब्द से अभिहित होता है।

जैसे तीव्र वेग के साथ प्रवाहित होने वाली सरिता के प्रवाह में पड़ा पाषाण, अन्य पाषाणों से टक्करें खाता-खाता अनायास ही गोल-मोल बन जाता है, उसी प्रकार नाना गतियों एवं योनियों में, तीव्रतर वेदना की भट्ठी में जलता हुआ जीव कुछ प्राथमिक निर्मलता प्राप्त करता है। उसके अत्यन्त प्रगाढ़ कर्मों की कुछ निर्जरा होती है और निर्जरा के प्रभाव से उसे पाँच लब्धियों की प्राप्ति होती है।

पञ्चविध लब्धियाँ

प्रथम—क्षयोपशमलब्धि है, भवभ्रमण करते करते संयोगवश कभी ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग (रस) को प्रतिसमय अनन्त-अनन्तगुणा न्यून करना क्षयोपशमलब्धि है।

द्वितीय—विशुद्धिलब्धि है। क्षयोपशमलब्धि के प्रभाव से अशुभ कर्मों का अनुभाग मन्द होने पर आत्मा के परिणामों में संक्लेश की न्यूनता होती है और शुभ प्रकृतियों का बन्ध के कारणभूत शुभ परिणाम उत्पन्न होता है, वह विशुद्धिलब्धि है।

तृतीय देशनालब्धि है। विशुद्धिलब्धि के प्रभाव से वीतराग देव की वाणी श्रवण करने की तथा साधुसंगति करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इससे जीव को तत्त्व का सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है। यह देशनालब्धि कहलाती है।

चतुर्थ—प्रयोगलब्धि है, इसके पश्चात् जीव अपने परिणामों को विशुद्ध करता हुआ आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति कुछ कम कोड़ाकोड़ी सागरोपम की कर लेता है और घातिक तथा अघातिक कर्मों के रस को तीव्रतर से कुछ मन्द करता है। यह प्रयोगलब्धि कहलाती है।

पञ्चम—करणलब्धि है, प्रयोगलब्धि के पश्चात् पाँचवीं करणलब्धि में तीन प्रकार के करण (आत्मपरिणाम) उत्पन्न होते हैं—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है।

भेद-प्रभेद

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और समकितमोहनीय, यह सात प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन की विरोधी हैं। इनमें से पूर्ववर्त्ती छह प्रकृतियों का जब तक उदय बना रहता है, तब तक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती। समकितमोहनीय उसके अस्तित्व में बाधक नहीं है वह केवल निर्मलता में बाधक होती है। यह प्रकृति सम्यग्दर्शन में चंचलता, मलीनता और अगाढ़ता दोष उत्पन्न करती है।

हाँ, तो उक्त सात प्रकृतियों के उपशम से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन औपशमिक सम्यग्दर्शन[1] कहलाता है और सातों के क्षय से

१. प्रवचन सारोद्धार कर्मग्रन्थ प्रथम।

होने वाला क्षायिक सम्यग्दर्शन[1]। उदयागत मिथ्यात्वादि का क्षय होने पर और अनुदित का उपशम होने पर एवं सम्यक्त्वमोहनीय का उदय होने पर जो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, वह क्षायोपशमिक[2] कहलाता है।

इन तीन प्रकार के सम्यग्दर्शनों में क्षायिक सम्यग्दर्शन सर्वाधिक निर्मल होता है। उसकी सत्ता सादि-अनन्त है, अर्थात् एक वार उत्पन्न होने के पश्चात् उसका नाश नहीं होता। उपशमसमकित एक अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहर कर विलीन हो जाता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का अधिक से अधिक छयासठ सागरोपम (कुछ काल अधिक) तक अवस्थान रहता है।

सम्यक्त्व के लोकोत्तर अमी-रस का पान करके जीव जब पुनः मिथ्यात्व की ओर झुकता है तो इस परिवर्त्तन में कुछ काल लगता है। सम्यक्त्व के शिखर से गिर कर जब तक मिथ्यात्व के गहरे गर्त्त में नहीं पहुँचा है, तब तक वान्त सम्यक्त्व का किंचित् संस्कार अवशिष्ट रहता है उस समय की जीव की श्रद्धारूप परिणति सास्वादनसम्यक्त्व कहलाती है।

कभी-कभी ऐसी स्थिति भी होती है कि जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की प्रशस्त भूमिका पर आरूढ़ होने योग्य विशुद्धता को प्राप्त करता है। जब वह सम्यक्त्वमोहनीय के अन्तिम कर्मदलिकों का अनुभव करता है, उस समय का उसका सम्यक्त्व 'वेदक' सम्यक्त्व कहलाता है। 'वेदक' सम्यक्त्व के अनन्तर ही जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

---

१. प्रवचन सारोद्धार कर्मग्रन्थ प्रथम।
२. प्रवचन सारोद्धार कर्मग्रन्थ प्रथम।

सम्यग्दर्शन के पृथक् पृथक् पहलुओं का बोध कराने के लिए अन्य अनेक प्रकार के भेद-प्रभेद भी किये गये हैं। उसके चार प्रकार से दो-दो भेद इस प्रकार हैं—

(१) द्रव्य सम्यक्त्व और भावसम्यक्त्व[1]

(२) निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व[2]

(३) पौद्गलिक सम्यक्त्व और अपौद्गलिक सम्यक्त्व[3]

(४) निसर्गज सम्यक्त्व और अधिगमज सम्यक्त्व[4]

विशुद्ध रूप में परिणत किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गल द्रव्यसम्यक्त्व कहलाते हैं। और उन पुद्गलों के निमित्त से होने वाली तत्त्वश्रद्धा भावसम्यक्त्व कहलाती है।

राग द्वेष और मोह का अत्यन्त मन्द हो जाना, आत्मिक गुणों में रमण करना, पर-पदार्थों से आत्मीयता का भाव हट जाना एवं देह में रहते हुए भी देहाध्यास का छूट जाना निश्चयसम्यक्त्व है। अरिहन्त भगवान् को देव मानना, पंच महाव्रतों का पालन करने वाले मुनियों को गुरु मानना और जिनेन्द्रप्ररूपित धर्म को ही श्रेयस्कर धर्म समझना व्यवहार सम्यक्त्व है।

---

१. प्रवचन सारोद्धार द्वार १४९ गा० ९४२ टीका।

२. (क) प्रवचन सारोद्धार द्वार १४९ गा० ९४२ टीका।
 (ख) कर्मग्रन्थ प्रथम गा० १५

३. प्रवचन सारोद्धार

४ (क) स्थानाङ्ग २, उ० १—सूत्र ७०
 (ख) प्रज्ञापना प्रथम पद सू० ३७
 (ख) तत्त्वार्थ सूत्र प्र० अ० सूत्र ३

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पौद्गलिक सम्यक्त्व कहलाता है और क्षायिक तथा औपशमिक सम्यक्त्व अपौद्गलिक सम्यक्त्व। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था में कर्मप्रद्गलों का प्रदेशानुभव होता है, किन्तु क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व में न प्रदेशानुभव होता है और न विपाकानुभव ही।

निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व के सम्बन्ध में पूर्व हा कहा जा चुका है।

अपेक्षाभेद से सम्यक्त्व तीन प्रकार से भी निरूपित किया गया है। क्षायिक आदि तीन भेदों का उल्लेख किया जा चुका है; किन्तु कारक रोचक और दीपक के भेद से भी उसके तीन भेद होते हैं।[1]

त्रिविध दर्शन :

कारकसम्यक्त्व :—जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव सम्यक्चारित्र के प्रति विशिष्ट रुचिमान् बनता है, स्वयं चारित्र का पालन करता है तथा दूसरों से करवाता है, वह कारकसम्यक्त्व है।

रोचकसम्यक्त्व :— जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर प्राणी संयमपालन में रुचि तो रखता है, किन्तु चारित्रमोह के उदय से रुचि के अनुरूप चारित्र का पालन नहीं कर सकता, वह रोचकसम्यक्त्व है।

दीपकसम्यक्त्व :—जिस जीव की रुचि सम्यक् नहीं होती किन्तु जो अपने उपदेश से दूसरों में रुचि उत्पन्न करता है, उसकी परिणति दीपकसम्यक्त्व कहलाती है। यह सम्यक्त्व, दूसरों के सम्यग्दर्शन का कारण होने से उपचार से ही सम्यक्त्व कहलाता है। अनेक जीव

---

१. क—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २६७५, ख—द्रव्य लोक प्रकाश, तृतीय सर्ग ६६८ से—६७०। ग—धर्म संग्रह, घ—श्रावक प्रज्ञाप्ति गाथा ४९—५०

ऐसे भी होते हैं जो अनेकों को तार देते हैं, किन्तु स्वयं नहीं तर पाते। वे संसार-सागर में ही गोते खाते रहते हैं।

दशविध रुचि :

श्री उत्तराध्ययन शास्त्र में दस प्रकार की रुचि का भी निरूपण किया गया है, यथा—

> निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुतबीअरुइमेव।
> अभिगम वित्थाररुई, किरिया संखेवधम्मरुई॥
>
> — उ० अ० २८, गा० १६

(१) निसर्गरुचि—परोपदेश के विना ही, सम्यक्त्व आवरक कर्मों की विशिष्ट निर्जरा हो जाने से उत्पन्न होने वाली तत्त्वार्थ श्रद्धा।

(२) उपदेशरुचि—लोकोत्तर महिमा से मण्डित त्रिजगत्-महित अरिहन्त भगवान् के अथवा उनके अनुगामी मुनि आदि के उपदेश को श्रवण करने से उत्पन्न होने वाली तत्त्वश्रद्धा।

(३) आज्ञारुचि- अर्हन्त भगवान् की आज्ञा का आराधन करने से उत्पन्न होने वाली तत्त्वरुचि।

(४) सूत्ररुचि—द्वादशांग रूप श्रुत का अभ्यास करते-करते उत्पन्न होने वाली रुचि, अथवा ज्ञान के परम रस-सरोवर में आत्मा को निमग्न करने की रुचि सूत्ररुचि है।

(५) बीजरुचि - जैसे छोटे-से बीज से विशाल वटवृक्ष उत्पन्न हो जाता है अथवा पानी में डाला हुआ एक तैलबिन्दु खूब फैल जाता है, उसी प्रकार एक शास्त्रीय पद का भी अनेक पदों के रूप में परिणत हो जाना बीजरुचि है।

(६) अभिगमरुचि— अंगोपांगों के अर्थ रूप ज्ञान की विशेष शुद्धि होने से तथा दूसरों को ज्ञानाभ्यास कराने से होने वाली रुचि।

(७) विस्ताररुचि—षट्द्रव्य, नौ तत्त्व, द्रव्य गुण पर्याय प्रमाण, नय, निक्षेप आदि का विस्तारपूर्ण अभ्यास करने से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(८) क्रियारुचि—विशेष रूप से क्रिया करने से उत्पन्न होने वाली रुचि।

(९) संक्षेपरुचि—स्वल्प ज्ञान से ही उत्पन्न हो जाने वाली रुचि।

(१०) धर्मरुचि – वीतरागप्ररूपित धर्मश्रवण करने से होने वाली रुचि।

सम्यग्दर्शन रूप—तरु अत्यन्त विशाल है। उसकी शाखाएँ प्रशाखाएँ अनेक हैं। यहाँ संक्षेप में उनका उल्लेख किया गया है।

सम्यग्-दर्शन के भूषण :

जैसे स्वर्णनिर्मित आभूषण मणिजटित होने पर अधिक सुशोभन हो जाता है अथवा निसर्ग-सुन्दर शरीर श्रेष्ठ वसनाभूषणों से खिल उठता है, उसी प्रकार सहज-सुन्दर सम्यक्त्व के भी कुछ भूषण हैं, जिनके कारण उसमें विशिष्ट सौन्दर्य आ जाता है। वे निम्नलिखित हैं :—

स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पञ्चास्य, भूषणानि प्रचक्षते॥

(१) स्थिरता—जिन शासन में स्वयं दृढ़ होना और दूसरों को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करना।

(२) प्रभावना—जिनशासन के सम्बन्ध में फैले हुए अज्ञान का निराकरण करके, उसके लौकिक एवं लोकोत्तर माहात्म्य को प्रकाशित करना।

(३) भक्ति—गुरुजनों का यथोचित विनय करना, वैयावृत्य (सेवा) करना, ज्ञान एवं चारित्र आदि गुणों में जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं, उनका औचित्य के अनुरूप सत्कार-सम्मान करना।

(४) कौशल—सर्वज्ञप्ररूपित सिद्धान्त में कुशल होना; उसके वाह्य शाब्दिक रूप में ही न उलझे रहकर मर्म को समझना, प्रत्येक विधि-विधान के हार्द तक पहुँचना और तात्पर्य को अवगत करने का कौशल प्राप्त करना।

(५) तीर्थसेवा—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चार तीर्थ हैं। इनकी यथानुरूप सेवा करना; अपने आपको इनकी सेवा में समर्पित मानना।

इन पाँच आभूषणों[1] से सम्यक्त्व भूषित होता है और आत्मा में एक प्रकार की अनूठी चमक पैदा होती है।

सम्यग्दर्शन की भावनाएँ :—

एक विचार की अन्तरता में पुनः पुनः आवृत्ति की जाती है, तब वह भावना का रूप ग्रहण करता है। ऐसा करने से विचार में सशक्तता आती है, आन्तरिक क्षमता का विकास होता है और तदनुरूप व्यवहार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। यही कारण है कि जिनागम में प्रत्येक व्रत की भावनाएँ निर्दिष्ट कर दी गई हैं। मगर सम्यग्दर्शन तो समस्त व्रतों का आधारस्तम्भ है। उसकी सत्ता एवं सबलता

---

१. धर्म संग्रह अधिकार २, श्लोक २२, टीका।

पर ही व्रतों की सत्ता और सवलता निर्भर है। अतएव सम्यक्त्व को सबल एवं सक्षम बनाने के लिए भावनाओं का होना अनिवार्य है।

अन्यान्य व्रतों की पांच-पांच भावनाएँ हैं, जब कि सम्यग्दर्शन की छह भावनाएँ प्रतिपादित की गई हैं,[1] जो इस प्रकार हैं—

(१) धर्म यदि विशाल वृक्ष है तो सम्यक्त्व उसका मूल है। मूल के अभाव में वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता और यदि मूल सुदृढ़ हो तो वृक्ष भी सुदृढ़ रह सकता है। वह आंधी—तूफान आदि के आक्रमण को सहन कर लेता है। ठीक इसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष सम्यग्दर्शन के बिना टिक नहीं सकता। इसके विपरीत यदि सम्यक्त्व दृढ़ हुआ तो विकराल विघ्न बाधाओं की विद्यमानता में भी धर्म स्थिर रह सकता है। सम्यक्त्व रूपी मूल के होने पर ही धर्मवृक्ष में जीवदया आदि के सुकोमल पल्लव उगते हैं, सदगुणों के सौरभसमन्वित सुमन विकसित होते हैं और अनन्त अखण्ड अनाबाध अक्षय सुख रूपी फल का उद्गम होता है।

(२) सम्यक्त्व, धर्म रूपी नगर का विशाल प्राकार है। जसे प्राकार से सुरक्षित नगर पर शत्रु सरलता से हमला नहीं कर सकता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के द्वारा सुरक्षित धर्म पर भी विरोधी सहज आक्रमण नहीं कर सकते। जैसे नगर में प्रवेश करने के लिए प्राकार के द्वार से ही जाना पड़ता है, उसी प्रकार धर्मपुर में प्रवेश करने के लिए भी सम्यक्त्व-द्वार से ही जाना पड़ता है।

(३) सम्यक्त्व, धर्म रूपी प्रासाद की नींव है। नींव जितनी मजबूत होगी, प्रासाद भी उतना ही मजबूत होगा। महल की स्थिरता

---

[1] (क) प्रवचन सारोद्धार द्वार १४८ गा. ९४०

(ख) धर्म संग्रह अधिकार २ श्लोक २२ टीका पृष्ठ ४३

नींव की स्थिरता पर ही निर्भर है। इसी प्रकार धार्मिक दृढ़ता सम्यक्त्व की दृढ़ता पर ही निर्भर है। जिसका सम्यक्त्व अडिग है, वही धर्म से अडिग रह सकता है।

(४) सम्यक्त्व. धर्म रूपी रत्न की मंजूषा है। लोक में मूल्यवान् रत्न को सुरक्षित रखने के लिए मंजूषा की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार धर्म - रत्न की सुरक्षा के लिए सम्यक्त्व की आवश्यकता है।

कोई लौकिक रत्न, चाहे वह कितना ही कीमती क्यों न हो, अन्ततः जड़ है, पौद्गलिक है और उससे आत्मा का वास्तविक हित सिद्ध नहीं हो सकता। पारलौकिक दृष्टि से उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। परन्तु धर्म आत्मा की अपनी सम्पत्ति है। उससे इह-परलोक में असीम उपकार होता है। उसकी सुरक्षा में ही आत्मा का कल्याण है। अतएव धर्म की रक्षा के लिए सम्यक्त्व की रक्षा करना आवश्यक है।

(५) सम्यक्त्व धर्म रूपी भोजन का पात्र है। पात्र के अभाव में भोजन ठहर नहीं सकता, उसी प्रकार समकित के अभाव में धर्म नहीं ठहर सकता।

(६) सम्यक्त्व धर्म रूपी किराने का कोठा है। जैसे छिद्ररहित कोठे में रक्खा हुआ किराना चोर, चूहा, आँधी-पानी आदि के उपद्रव से सुरक्षित रहता है। उसी प्रकार धर्म-किराना निश्छिद्र--निरतिचार सम्यक्त्व की विद्यमानता में कठिन से कठिन बाधाएँ भी धर्म को विकृत या नष्ट नहीं कर सकतीं।

सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाना आत्मा के लिए महान् से महान् लाभ है सम्यक्त्व, मोक्ष प्राप्ति का अधिकार पत्र है। अतएव उसकी प्राप्ति के लिए, प्राप्त की सुरक्षा के लिए और सुरक्षित

को उज्ज्वल बनाने के लिए इस प्रकार का चिन्तन अतीव उपयोगी है। इन भावनाओं से सम्यक्त्व के प्रति समादर बुद्धि उत्पन्न होती है, उसके महत्त्व की प्रतीति होती है और उसको निर्दोष बनाये रखने के लिए उद्योग करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

छह स्थान

चाहे सम्यग्दर्शन हो या सम्यग्ज्ञान अथवा शम, दम, यम, नियम आदि सम्यक्चारित्र हो, सब शुद्ध आत्मस्वरूपोपलब्धि के लिए हैं। इन सब का आधार आत्मा ही है। जिसे आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं है, सम्यग्दर्शन उससे कोसों दूर है। अतएव सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व और उसके समीचीन स्वरूप को समझना आवश्यक है। इसी अभिप्राय से सम्यग्दर्शन के छह स्थान[1] आधार निरूपित किये गये हैं—

(१) आत्मा है।

(२) आत्मा द्रव्यतः नित्य है।

(३) आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है।

(४) आत्मा कृत कर्मों के फल का भोक्ता है।

(५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

(६) मुक्ति का उपाय है।

---

[1] (क) प्रवचन सारोद्धार. द्वार १४८ गा. ९४१

(ख) धर्म संग्रह अधि. २ श्लो. २२

वह छह स्थान समस्त साधना और आराधना के प्रधान केन्द्रबिन्दु हैं। इनका विस्तारपूर्वक विचार करके, तर्क द्वारा विश्लेषण करके निश्चय करना चाहिये।

हाँ तो संक्षेप में सार यह है कि साधना का मूलाधार सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति ही यथार्थ द्रष्टा बनता है, उसमें सतत सत्य की लौ जलती है, अनुत्तर-ज्ञान धारा से आत्मा को भावित करता हुआ आध्यात्मिक ज्योति जगाता है।

सम्यग्ज्ञान : एक परिशीलन

अन्तर का आलोक

ज्ञान की महिमा

जीव यद्यपि अनन्त गुणों की बहुमूल्य समृद्धि से परिपूर्ण है, तथापि उसमें चेतना समृद्धि ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। चेतना की अनिर्वचनीय चिनगारी से प्रस्फुटित ज्ञानालोक पर ही अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के अस्तित्व की अनुभूति अवलम्बित है।

दिवाकर की प्रखर रश्मियाँ जब अस्ताचल के अंक में विलीन होकर विश्राम करती हैं और यह जगत् सघन अंधकार के कृष्णवर्ण आवरण में अन्तर्हित हो जाता है, तो प्रतीत होता है, मानो एक प्रकार की सर्वव्यापी शून्यता ने अखिल लोक को निगल लिया है। अशेष निश्शेष में समा गया है! सर्वत्र नीरवता, जड़ता, सुषुप्ति और अनस्तित्व का एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया है।

किन्तु वही दिवाकर जब उदयाचल की ओट में, उस शून्यता—अपनी करामात—का अवलोकन करने के लिए झांकता है तो जगत् में जागृति के प्राणों का अभिनव स्पन्दन हो उठता है। सूर्य की स्वर्णरश्मियों का संसर्ग पा कर सृष्टि पुनः प्रकाशमान हो उठती है, उसकी विविधता जैसे लौट आई हो।

यह उस प्रकाश का महत्त्व है जिसे हम बाह्य, जड़ या पौद्गलिक कहते हैं। इस प्रकाश के प्रकाश में देखने पर शायद आन्तरिक-आत्मिक प्रकाश की महिमा का किंचित् आकलन किया जा सकता है। ज्ञान के आलोक में ही हम अपने एवं बाह्य जगत् के अस्तित्व को पहचान पाते हैं। ज्ञान है तो सब कुछ है, नहीं है तो कुछ भी नहीं है।

ज्ञान-ज्ञेय का सम्बन्ध

इस कथन का आशय यह न समझिए कि ज्ञेय की सत्ता ज्ञान पर निर्भर है। ज्ञेय अपने स्वरूप में और ज्ञान अपने स्वरूप में स्थित है। एक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित नहीं है। निविड़ अन्धकार की स्थिति में भी पदार्थराशि का अभाव नहीं हो जाता। नेत्रहीन पुरुष भले पदार्थों का अवलोकन न कर सके, तथापि उनका अस्तित्व तो अक्षुण्ण ही है। हम न जानें या अन्यथा जानें, पदार्थ अपने स्वरूप में अवस्थित और अचल ही रहता है। तथापि पदार्थ की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति ज्ञान के ही अधीन है। हमें प्रत्येक पदार्थ की सत्ता का आभास-प्रतिभास ज्ञान के बिना नहीं होता। ज्ञान के अभाव में वस्तु की सत्ता, असत्ता से अधिक मूल्य नहीं रखती।

ज्ञान-ज्ञाता का सम्बन्ध

ज्ञान ही जड़ और जीव की विभाजक रेखा है, इसी कारण आचार्य कहते हैं—'जीवो उवओग मओ' अर्थात् जीव उपयोगमय है—ज्ञान दर्शनस्वरूप है। ज्ञानगुण की बदौलत ही आत्मा इतर द्रव्यों से भिन्न है। आत्मा ज्ञाता है, इतर द्रव्य ज्ञेय है।

आत्मा और ज्ञान में गुण-गुणी-सम्बन्ध है। गुणी आत्मा और गुण ज्ञान है; किन्तु जैनदर्शन, कणाद की तरह गुण-गुणी में एकान्त पार्थक्य स्वीकार नहीं करता और न एकान्त अभेद ही। एकान्त पार्थक्य मानने पर दोनों का सम्बन्ध घटित नहीं होता और एकान्त

अभेद मानने से दोनों में से किसी एक की ही सत्ता रह सकती है। गुणी माना जाय या गुण ही। मगर ऐसा मानने में भी समस्या का समाधान नहीं होता। जगत् में गुण के अभाव में गुणी का और गुणी के अभाव में गुण का अस्तित्व नहीं देखा जाता।

विस्मय का विषय है कि कपिल जैसे दार्शनिक ज्ञान (बुद्धि) को जड़ प्रकृति का कार्य मानते हैं। उनकी यह मान्यता आत्मा के अस्तित्व का अपलाप करने वाले चार्वाक-दर्शन से मेल खाती है। चार्वाक चार भूतों के अतिरिक्त आत्मतत्त्व को स्वीकार नहीं करता, किन्तु स्वसंवेदनसिद्ध चैतन्य से कैसे इन्कार कर सकता है? इस कारण वह चैतन्य को भूतधर्म मानने के लिए विवश है, मगर कपिल के सामने यह लाचारी नहीं थी। उन्होंने प्रकृति (जड़तत्त्व) से सर्वथा पृथक् पुरुष (आत्मा) तत्त्व स्वीकार किया है। फिर बुद्धि को पुरुष का धर्म न मानकर प्रकृति का कार्य स्वीकार करने का क्या रहस्य हो सकता है? संभवतः आत्मा की कूटस्थ नित्यता की रक्षा करने के लिए ही उन्हें इस प्रकार की तर्क एवं अनुभव से विरुद्ध कल्पना करनी पड़ी है।

कुछ भी हो, निश्चित है कि ज्ञान न तो आत्मा से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न है और न जड़ का धर्म या कार्य है। उसका आत्मा के साथ, गुण-गुणी का भेद परक सम्बन्ध होने पर भी वस्तुतः अभेद है। चेतना के बिना आत्मा की और आत्मा के बिना चेतन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जैनागम का यह निर्णय असंदिग्ध है—

जे आया से विण्णाया।
जे विण्णाया से आया।

—आचाराङ्ग

तो ज्ञान आत्मा का सहज स्वभाव है। ज्ञान से ही आत्मा ज्योतिर्मय है। कहा है—

> तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं,
> शमं विधत्ते विनिहन्ति कोपम्।
> तनोति धर्मं विधुनोति पापं,
> ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम्॥

सचमुच ज्ञान कल्पवृक्ष से भी बढ़कर अभीष्ट की सिद्धि करने वाला है। कामधेनु के समान अमृत प्रदान करने वाला है। कामकुम्भ ज्ञान के सामने तुच्छ है। यहाँ तक कि चिन्तामणि के साथ भी उसकी तुलना नहीं हो सकती। अभीप्सित प्रदान करने वाले इन सब दैवी पदार्थों का सामर्थ्य सांसारिक विभूतियों तक ही सीमित है। आत्मिक वैभव तक इनकी पहुँच नहीं है। कल्पपादप आत्मा को भुलावे में डाल सकता है, कामधेनु कामना के कीचड़ में फँसा सकती है, कामकुम्भ कामभोग के असीम एवं अतल अम्भोनिधि में निमग्न कर सकता है और चिन्तामणि की चकाचौंध नेत्रों की विद्यमान विवेकज्योति को भी विलुप्त कर सकती है। इनमें आत्मा को भ्रम के अंधकार से उबारने की क्षमता नहीं। आन्तरिक आलोक की आभा उत्पन्न करना इनके वश की बात नहीं है। मगर ज्ञान? समग्र सृष्टि में कौन-सा लौकिक और लोकोत्तर अभीष्ट है, जो ज्ञान के द्वारा साध्य न हो? जिन प्राकृतिक शक्तियों के सामने, किसी युग का मानव भयाकुल होकर नतमस्तक हो जाता था, दैन्य से अभिभूत होकर गिड़गिड़ाता था और दैवी चमत्कार मान कर अनुनय-विनय करता था, वि-ज्ञान की बदौलत आज वही शक्तियाँ मानव-जाति की क्रीत दासी बन गई हैं। वि-ज्ञान का सहारा पाकर मनुष्य आज विहंगम से भी बढ़कर व्योम में स्वच्छन्द विचरण करता

है, सागर के वक्षस्थल को विदीर्ण करके यात्रा करता है! वि-ज्ञान ने जगत् के चिरपुरातन कलेवर में नूतनता के प्राण प्रतिष्ठित कर दिये हैं, उसे नव्य भव्य और कह सकते हैं दिव्य स्वरूप प्रदान किया है। सृष्टि का कोना-कोना ज्योतिर्मय हो उठा है। जब बाह्यज्ञान की इतनी क्षमता है तो आध्यात्मिक ज्ञान की क्षमता की समता कहाँ मिल सकती है? अतएव कवि ने यथार्थ ही कहा है—

ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम?

बाह्य-आन्तरिक प्रकाश

ज्ञान अन्धकार को नष्ट करके चेतनमय प्रकाश की प्रभास्वर रश्मियाँ विकीर्ण करता है।

सूर्य और चन्द्र प्रकाश के पुंज माने जाते हैं। प्रदीप भी प्रकाश प्रदान करता है। विद्युत् का प्रकाश भी अंधकार का विनाशक है। परन्तु इस पुद्गलमय प्रकाश में और ज्ञान-प्रकाश में महदन्तर है।

नयनहीन मानव को सूर्य, चन्द्र, विद्युत्-बल्ब और सहस्रों प्रदीप भी मिलकर प्रकाश नहीं दे सकते, क्योंकि उसे अपना चेतनमय प्रकाश प्राप्त नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि पौद्गलिक प्रकाश, आत्मीय प्रकाश के अभाव में निरुपयोगी है, पंगु है।

पुद्गलमय प्रकाश रूपवान् होने के कारण रूपवान् वस्तुओं को ही प्रकाशित कर सकता है। मगर सब रूपवान् भी उसके दायरे में नहीं आते। इस लोकाकाश के प्रदेश-प्रदेश में अवगाढ़ अनन्त-अनन्त परमाणु और बहुतसे स्कंध (परमाणु पिण्ड) भी ऐसे हैं, जिन तक पुद्गलमय प्रकाश की पहुँच नहीं है। इसके अतिरिक्त, जगत् केवल पुद्गलों का ही प्रचय तो नहीं है। छह द्रव्यों में से पुद्गल एक है

और पाँच द्रव्य उससे भिन्न हैं, जिनमें न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है। यह अरूपी द्रव्य आंशिक रूप से भी पौद्गलिक प्रकाश के गोचर नहीं हैं।

पौद्गलिक प्रकाश परावलम्बी और ससीम होने के साथ-साथ अस्थायी भी है। सूर्य सदा उदित नहीं रहता। चन्द्रमा की भी यही गति है। अन्यान्य प्रकाश भी इसी प्रकार के हैं। किन्तु ज्ञान-प्रकाश की बात निराली है। वह न परावलम्बी है। न उसकी कोई निर्धारित सीमा है। जब वह अपने शुद्ध स्वरूप में अभिव्यक्त होता है तो विश्व की समस्त भावराशि, भले वह स्थूल हो या सूक्ष्म, रूपी हो अथवा अरूपी, जड़ हो या चेतन, उसके द्वारा पूर्ण रूपेण आलोकित हो उठती है।

जीव के समस्त दुःखों का मूल विषमभाव है। विषमभाव से आत्मा की शमपरिणति भग्न हो जाती है और कषाय का दावानल सुलग उठता है। किन्तु प्रश्न यह है कि विषम-भाव का उद्गमस्थल क्या है? गंभीरतापूर्वक विचार करने पर विदित होगा कि मूढ़ता ही विषमभाव की जननी है। जब मूढ़ता का अन्त और ज्ञान का उन्मेष होता है तो वस्तुस्वरूप को यथावस्थित रूप में समझना संभव हो जाता है और तब विषमभाव की भी इति हो जाती है। अतएव कहा गया है कि ज्ञान शमभाव को जागृत करता है और क्रोधादि कषायों का उन्मूलन कर देता है।

धर्म की आराधना का मूल आधार ज्ञान ही है। शास्त्र कहता है—

अन्नाणी किं काही,
किं वा नाहीइ छेय-पावगं।

दशवै. अ. ४—गा० १०

अज्ञान के तामस आवरण से आवृत बेचारा अज्ञानी पुण्य-पाप के पार्थक्य ज्ञान से भी अनभिज्ञ रहता है। वह पाप से पृथक् रहकर किस प्रकार पुण्य-आचरण कर सकता है ?

अमावस्या की निविड अंधकारमयी रजनी में, अरण्य में विचरण करने वाला पथिक भटक जाता है। कुमार्ग पकड कर किसी गहरे गर्त्त में गिरता है या ठोकरें खाता है या कँटीली झाड़ियों में उलझ जाता है। कभी-कभी वह ऐसी राह पकड़ लेता है जो उसे मंज़िल तक पहुँचाने के बदले और अधिक दूरी पर ले जाती है। अज्ञान मनुष्य की धर्माराधना की भी ऐसी ही स्थिति होती है।

कभी-कभी अज्ञानी जीव भी कठिन तपश्चर्या करता है, देहदमन करता है, मास-मास का उपवास करके काया को कृशतर कर लेता है, पंचाग्नि तप कर विकारों को भस्म करने की धारणा करता है परन्तु हन्त ! उसका प्रयास ज्ञान के अभाव में निरर्थक ही सिद्ध होता है। यही नहीं, अग्निकाय का घोर आरंभ और कन्दमूलादि का भक्षण जैसी क्रियाएँ उसे विपरीत ही दिशा में ले जाती हैं। जिसे आत्मा-अनात्मा का विवेक नहीं, आस्रव-संवर की पहचान नहीं, बन्ध-निर्जरा का भान नहीं, उसकी साधना का पथ यदि विपरीत दिशागामी हो तो आश्चर्य ही क्या ?

श्रमण भगवान् श्री महावीर ने ज्ञान-अज्ञान का अन्तर समझाते हुए कहा है—

जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा।

—आचाराङ्ग सूत्र

थोड़े से शब्दों में कितना विशाल आशय भर दिया गया है ! इसी को कहते हैं—गागर में सागर भर देना ।

बहुत बार अज्ञ और विज्ञ पुरुष की बाह्य क्रियाएँ ऊपर-ऊपर से समान दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु उनके आन्तरिक रूप और विपाक में आकाश-पाताल से कम अन्तर नहीं होता। अज्ञ पुरुष कर्मक्षयकारी क्रियाओं को भी कर्मबन्ध का हेतु बना लेता है, जब कि ज्ञानी पुरुष कर्मबन्ध के कारणों को कर्मक्षय का कारण बना लेता है। निष्कर्ष स्पष्ट है—ज्ञान ही निश्रेयस् के पथ के पथिक के लिए प्रदीपालोक है और ज्ञान ही कल्मष की तिमिर-कालिमा को दूर कर सकता है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु के लिए अनिवार्य है कि जब वह साधना की बीहड़ पगडंडी पर प्रस्थान करने को प्रस्तुत हो तो ज्ञान की मशाल अपने साथ रक्खे ।

ज्ञान और सुख

यद्यपि ज्ञान और सुख पृथक्-पृथक् आत्म धर्म गिने गये हैं, तथापि दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्ञान की कृतार्थता सुख की सम्प्राप्ति में है और सुख संवेदना से शून्य नहीं हो सकता। जड़ पदार्थ ज्ञान शून्य होने के कारण सुख से भी रहित हैं। सांसारिक सुख साता-वेदन और दुःख असातावेदन कहलाता है। इसका आशय यह है कि हमारे सुख-दुःख एक विशिष्ट प्रकार की वेदना-अनुभूति ही हैं। ज्ञान और सुख का सम्बन्ध प्रकट करते हुए किसी सन्त ने कहा है— 'ज्ञान सुखों की खान।'

मगर एक प्रश्न सामने आता है। एक व्यक्ति आनन्द के साथ अपना काल-यापन कर रहा है। उसे समस्त सुख-सामग्री प्राप्त है। उसके हृदय में किसी प्रकार का शल्य नहीं है। परदेश में पेढ़ी है। विपुल आय है। विनीत परिवार है। अकस्मात् परदेश में स्थित

उसके पुत्र के हृदय की गति वन्द हो जाती है और उसका प्राणान्त हो जाता है । डाक–तार–कर्मचारियों की हड़ताल के कारण अव्यवस्था होने से पाँच दिन वाद उस व्यक्ति को अपने पुत्र की मृत्यु का पता चलता है ।

जव तक उसे पुत्र की मृत्यु का ज्ञान नहीं था, वह सुख-चैन में था । ज्ञान होते ही उसका समग्र सुख, सहस्रगुणित दुःख के रूप में परिणत हो गया । ऐसी स्थिति में ज्ञान को सुख की खान समझा जाय या दु.ख की खान ?

अज्ञानवादी इसी प्रकार,के तर्क उपस्थित करके ज्ञान की हेयता और अज्ञान की उपादेयता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । उनके मन्तव्य के अनुसार अज्ञान ही श्रेयस्कर है । जिन जड़ पदार्थों में लेश मात्र भी ज्ञान नहीं है, वे सव प्रकार की दुःखानुभूति से वचे हुए हैं । उन्हें न चिन्ता है, न शोक है, न खेद है, न उद्वेग है । अपने स्वभाव में मस्त हैं । किन्तु—अज्ञानवादी का यह तर्क वस्तुतः अज्ञानप्रसूत ही है ।

एक व्यक्ति की मृत्यु का विभिन्न लोगों पर अलग-अलग प्रकार का असर होता है । गांधीजी ने भारतवर्ष के लिए क्या नहीं किया ? स्वदेश की स्वाधीनता के लिए अपने सुखों का वलिदान किया, घोर से घोर यातनाएँ सहन कीं । उनकी समस्त शक्तियाँ स्वदेशवासियों के हित के निमित्त ही समर्पित रहीं । उनके मारे जाने का समाचार फ़ैलते ही न केवल भारतवर्ष, वरन् संसार भर के विचारशील लोग शोक-सागर में निमग्न हो गये । परन्तु तव भी गोडसे जैसी विचारधारा के लोगों ने घी के दिये जलाए ।

इन परस्पर विरुद्ध दिशागामी प्रभावों के रहस्य का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी घटना मनुष्यों की विभिन्न

प्रकार की मनोवृत्तियों के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के असर पैदा करती है। घटना अपने आप में कोई प्रभाव नहीं रखती। ऐसा होता तो एक घटना का प्रभाव सभी पर एक-सा होता। पुत्र की मृत्यु का समाचार ज्ञात करके पिता को जो असीम दुःख-वेदना होती है, उसका प्रधान कारण, उसकी पुत्र के प्रति रागात्मिका मनोवृत्ति है।

संसार में प्रतिदिन सहस्रों मानव काल की विकराल दाढ़ों में पिस रहे हैं। कौन किसके लिए मातम मनाने बैठता है। मगर जिसका जिसके प्रति अनुराग-मोह है, वही उसके लिए शोक का अनुभव करता है। अतएव स्पष्ट है कि दुःख और शोक मोहजनित हैं, ज्ञानजनित नहीं।

ज्ञान और भय

भय के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। जब तक बगल में बैठे सर्प का पता नहीं चलता, मनुष्य निर्भय रहता है। पता चलते ही वह भय के कारण कांप उठता है और भागना संभव हो तो भाग खड़ा होता है। किन्तु इस प्रकार की भीति के अन्तस्तल में भी प्राणों का मोह ही छिपा है। मनुष्य चिड़ियाघर में जाकर भयंकर से भयंकर नाग को देखता है, कई बार उसके साथ छेड़छाड़ भी करता है; मगर मन ही मन जानता है कि यह मुझे डँस नहीं सकता, अतः भयभीत नहीं होता। नाग का ज्ञान ही यदि भय का कारण होता तो चिड़ियाघर के पींजरे में बन्द नाग का ज्ञान भी भय उत्पन्न करता।

अभिप्राय यह है कि ज्ञान दुःख और भय का जनक नहीं। यही नहीं, वह आनन्द और निर्भयता का अखण्ड स्रोत भी है। जब तक बालक की इन्द्रियों का विकास नहीं होता, वह अबोध रहता है, तब तक माता की गोदी से अलग होते ही डरता और रोता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसके ज्ञान का विकास होता जाता है, उसमें निर्भीकता

आती जाती है। ज्ञान का परम प्रकर्ष होने पर तो मनुष्य में ऐसी निर्भयता आ जाती है कि विकराल से विकराल राक्षस भी उसे भयभीत नहीं कर सकता। इस सत्य को समझने के लिये हमें अतीत की ओर झाँकना चाहिये। गजसुकुमार जैसे अगणित सन्त और कामदेव तथा अर्हन्नक जैसे श्रमणोपासक इस सचाई के मूर्त्तिमान प्रमाण हैं।

ज्ञान के प्रकाश में शोक, दुःख और भय जैसी वृत्तियों के लिए कोई अवकाश नहीं। यह वृत्तियां अज्ञान से ही प्रस्तुत होती हैं। व्यासजी ने ठीक ही कहा है—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यते महतो भयात्।

—भागवत, वनपर्व।

प्रज्ञा (ज्ञान) के प्रासाद पर आरूढ होकर ही मनुष्य भय से छुटकारा पा सकता है। भय एक प्रकार का मानसिक रोग है। ज्ञान ही इस रोग की सर्वोत्तम औषध है। भारत के प्राचीन राजनीतिज्ञ कौटिल्य का कहना है

न संसारभयं ज्ञानवताम्।

ज्ञान के प्रखर प्रकाश में विचरण करने वाले पुरुषों के पास सांसारिक भीति नहीं फटक सकती। क्योंकि 'विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्त्तते' अर्थात् ज्ञान के प्रदीप का प्रकाश फैलते ही भय का अन्धकार दूर हो जाता है।

अतीत के उदाहरणों तथा विद्वानों की साक्षियों की रोशनी में यदि हम अपनी बुद्धि से विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि दुःख, शोक, सन्ताप और भय को जीतने के लिए ज्ञान ही सर्वोत्तम साधन है।

साधना का प्रकाशस्तम्भ: सम्यग्ज्ञान

ज्ञान की पूर्णता

प्रत्येक आत्मा, अनन्त एवं असीम ज्ञान से सम्पन्न है। विश्व में जो भी स्थूल-सूक्ष्म, मूर्त्त-अमूर्त्त, चेतन-अचेतन भावराशि हैं और उसके जितने भी त्रैकालिक स्व-पर पर्याय हैं, विशुद्ध-ज्ञान के भी उतने ही पर्याय हैं। जब अपने समस्त पर्यायों के साथ ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, तभी उसमें परिपूर्णता आती है। ज्ञान की यही पूर्णता सर्वज्ञता कहलाती है।

ज्ञान के तारतम्य का आधार

जैन दर्शन आत्माओं की अनेकता के साथ स्वभावगत सदृशता को भी स्वीकार करता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा में, फिर वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो, अनन्त एव परिपूर्ण ज्ञान शक्ति विद्यमान रहती है।

आत्मिक शक्तियों के विकास की चरम सीमा मुक्तात्माओं में पाई जाती है और ह्रास की चरम सीमा निगोदगत जीवों में। इन दोनों चरमान्तों के मध्य अनन्त-अनन्त माध्यमिक स्थितियाँ हैं जो ज्ञान के विकास के तारतम्य को प्रकट करती हैं।

स्वभावगत सादृश्य होने पर भी विभावगत इस तारतम्य का कारण है आवरण। ज्यों-ज्यों आवरण की सघनता बढ़ती जाती है,

ज्ञान शक्ति का प्रकाश मन्द-मन्दतर होता चला जाता है। इसके विपरीत, जैसे-जैसे आवरण में हल्कापन होता जाता है, ज्ञान के विकास में वृद्धि होती जाती है।

आवरण की विनश्वरता

चन्द्रमा की नैसर्गिक ज्योत्स्ना को आवृत करने वाला मेघपटल, चंद्रमा का स्वभाव नहीं है— अपनी चीज नहीं है। वह औपाधिक है, आगन्तुक है, कारणजनित होने से वैभाविक है, अतएव विनश्वर है। इसी प्रकार आत्मा की ज्ञान-शक्ति को आवृत कर देने वाला आवरण-ज्ञानावरण-आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। विभाव है इसीलिये विनाशशील है। किस प्रकार उसका विनाश सम्भव होता है, यह एक अलग विषय है। जैन शास्त्रों में कर्मावरणों के विनाश की सम्पूर्ण तर्कसंगत प्रक्रिया प्रदर्शित की गई है जो प्रत्येक साधक के लिये अनिवार्य रूप से ज्ञातव्य है, किन्तु यहाँ तो हमें सिर्फ ज्ञान के सम्बन्ध में ही विचार करना है।

ज्ञान की विकृतियां

विशुद्ध बोध का स्वरूप सामने रख कर विचार करने पर हमें ज्ञान के विषय में दो प्रकार की विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—प्रथम, ज्ञान की अपूर्णता और द्वितीय भ्रान्तता। इस द्विविध विकृति के कारण भी दो ही हैं— ज्ञानावरणीय कर्म और मोहनीय कर्म। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान में अधूरापन उत्पन्न करता है। उसकी सघनता, सघनतरता और सघनतमता ज्ञान शक्ति में न्यूनता, न्यूनतरता और न्यूनतमता का कारण है। ज्ञानावरण का सामर्थ्य यहीं तक सीमित है। उसमें ज्ञान को मिथ्या, भ्रान्त या विपरीत बना देने की क्षमता नहीं है। ज्ञान का मिथ्यात्व, मोहनीय कर्म की देन है। दर्शन-मोहनीय कर्म ज्ञान को मिथ्या रूप में परिणत करता है।

ज्ञानावरण की सघनता जितनी मात्रा में न्यून होती है, उतनी ही मात्रा में ज्ञान शक्ति का विकास होता है। मगर यह आवश्यक नहीं कि ज्ञानावरण की सघनता कम होने के साथ मोहनीय की सघनता भी कम हो ही जाये। कभी कभी ऐसा भी हो सकता है. तथापि बहुत वार यह भी होता है कि ज्ञानावरण का विशिष्ट क्षयोपशम हो जाने पर भी मोह अपने प्रवल रुप में वना रहता है।

वैज्ञानिक को लीजिए। वह प्रकृति के अनेक रहस्यों को, जो साधारण बुद्धि से अगम्य प्रतीत होते हैं, खोल कर हमारे सामने रख देता है। उसने परमाणु शक्ति का आविष्कार किया है। टेलीवीजन का अन्वेषण किया है। शब्द और प्रकाश की गति को नापा है। गणित की उलझनों को सुलझा देने वाले यन्त्र का निर्माण किया है। और न जाने कितनी विस्मयवर्धक गवेषणाएँ करके मानवीय ज्ञान के कोष की अभिवृद्धि की है।

दार्शनिक अपने ढंग से पदार्थ-मीमाँसा करता है। अपने अप्रतिहत और प्रखर बुद्धिवैभव से सूक्ष्म, व्यवहित और अन्तरित वस्तुओं का चित्र हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है। सृष्टि के समस्त ज्ञेय उसकी बुद्धि की परिधि में समा जाते है।

इस प्रकार अनेक वैज्ञानिक और दार्शनिक बौद्धिक विकास के उच्चतर शिखर पर अवस्थित होते हैं। किन्तु नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान के आवरण के समान मोह के आवरण पर भी वे उतनी विजय प्राप्त कर सके हैं। सम्भव हैं, उच्चतम विद्वत्ता का धनी भी मोह की दृष्टि से निकृष्टतम स्थिति में हो। जब ऐसा होता है तो ज्ञानावरण कर्म के क्षमोपशम से ज्ञान का जो उन्माद होता है, उसमें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से भ्रान्तता एवं मिथ्यापन रहता है।

सामान्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की बात दूर रही, अतीन्द्रिय अवधिज्ञान भी मिथ्यात्व के कारण मलीन होता है। तत्त्वार्थ-सूत्र में कहा गया है—

मति श्रुतावधयो विपर्ययाश्च।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब सम्यग्दर्शन के साथ होते हैं, तब सम्यग्ज्ञान रूप होते हैं और जब मिथ्यादर्शन के साथ होते हैं तो मिथ्याज्ञान बन जाते हैं।

दूध स्वभावत: मधुर होने पर भी कटुक तुम्बे के संसर्ग से जिस प्रकार कटुक हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान भी स्वभावत: समीचीन होने पर भी मिथ्यात्व के संसर्ग से मिथ्या हो जाता है। जब वाह्याभ्यन्तर निमित्त मिलने पर मिथ्यात्व का अन्त होता है और सम्यग्दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है, तब वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है।

सम्यग्ज्ञान की कसौटी

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का अन्तर समझने के लिए एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। दार्शनिक परम्परा में और आध्यात्मिक परम्परा में सम्यग्ज्ञान का अर्थ एक-सा नहीं है। दार्शनिक परम्परा में ज्ञान का सम्यक्त्व. ज्ञेय की यथार्थता पर आधारित है, अर्थात् जिस ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ अपने सही रूप में प्रतिभासित होता है, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इससे विपरीत, ज्ञेय पदार्थ को अन्यथा रूप में जानने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। उदाहरणार्थ-सर्प को सर्प के रूप में जानने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) है और सर्प को रज्जु जानने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान (अप्रमाण) है। इस प्रकार प्रमेय की तथ्यता और अतथ्यता पर ज्ञान की प्रमाणता और

अप्रमाणता निर्भर है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'प्रमाणमीमांसा' में कहा है—'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।' अर्थात् पदार्थ का सम्यक् निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। किन्तु अध्यात्मशास्त्र को सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की यह कसौटी स्वीकार नहीं है।

अध्यात्मशास्त्र का सम्यग्ज्ञान

अध्यात्मशास्त्र की मान्यता के अनुसार जो ज्ञान सम्यग्दर्शनसंगत है वही सम्यग्ज्ञान है और जो मिथ्यादर्शनसंगत है; वह मिथ्याज्ञान है। तात्पर्य यह है कि जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है और इस कारण जिसकी दृष्टि शुद्ध हो चुकी है, जिसका प्रबल कषाय कालुष्य धुल गया है, जिसकी विचारधारा ने सही राह पकड़ ली है, जिसमें कदाग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है, उसका ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दृष्टि को भी कभी रज्जु में सर्प का भ्रम हो सकता है, संशय भी हो सकता है, तथापि उसके भीतर सम्यग्दर्शन की जगती हुई दिव्य ज्योति के कारण उसका भ्रम एवं संशय भी मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता। तद्विषयक दुरभिनिवेश का अभाव होने से वह ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान ही है।

इसके विपरीत, मिथ्यादृष्टि जीव को रुचि असद्‌गामिनी, बुद्धि दुराग्रहदूषित और श्रद्धा विपरीत होने के कारण, उसका सर्प को सर्प और रज्जु को रज्जु जानना भी मिथ्याज्ञान है।

दर्शन (व्यवहार) और अध्यात्म शास्त्र के इस व्याख्याभेद से किसी को गड़बड़ में पड़ने की आवश्यकता नहीं। सब के अपने-अपने मापदण्ड हैं और आवश्यक नहीं कि वे एक-से ही हों। इतिहास का बड़े से बड़ा विद्वान् भी गणितशास्त्र की दृष्टि से अबोध हो सकता है।

बाल की खाल निकालने वाला वैयाकरण भी विज्ञान की दृष्टि से अनजान हो सकता है।

आप कह सकते हैं कि उपर्युक्त उदाहरणों में विषयभेद के कारण एक ही व्यक्ति में विज्ञता और अज्ञता हो सकती है किन्तु जब सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि एक ही वस्तु को–रस्सी को–देखते हैं और सम्यग्दृष्टि उसे सर्प के रूप में जानता है, फिर भी उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और रस्सी को रस्सी समझने वाले मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाता है! ऐसा क्यों? इस भेद का आखिर क्या कारण है?

इस संबंध में यद्यपि पहले संकेत किया जा चुका है, तथापि स्पष्टता के लिए पुनः प्रकाश डालना उचित ही होगा। अध्यात्म-शास्त्रियों का मन्तव्य है :

सदसद्विसेसणाओ,
भवहेऊ जहिच्छिओवलंभाओ।
नाणफलाभावाओ,
मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान क्यों अज्ञान कहलाता है, इसके लिए यहाँ चार कारण प्रदर्शित किये गये हैं :—

(१) पागल मनुष्य कभी अपनी माता को माता कहता है, कभी पत्नी कहता है, कभी कुछ और भी कह देता है। उसे वास्तविकता और अवास्तविकता का अन्तर ज्ञान नहीं है। ऐसी स्थिति में जब वह माता को माता या पत्नी को पत्नी कहता है, तब उसका ज्ञान समझदार मनुष्य के ज्ञान के समान तथ्य ही प्रतीत होता है, फिर भी वह पागल सम्यग्ज्ञानी नहीं कहलाता। पागल का ज्ञान और शब्दप्रयोग

वास्तविकता से जनित नहीं, वरन् मन की तरंग से जनित है। उसे यद्वा-तद्वा कुछ जानना है और अंटसंट कुछ बोलना है। उसने माता को माता जान लिया या कह दिया है, तब भी उसके पीछे आवश्यक समझदारी नहीं है। अतएव उसका यथार्थ जानना और कहना भी प्रमाणिक नहीं माना जाता। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के अन्तर्लोक में कषाय की तीव्रता के कारण सत्-असत् का विवेक नहीं होता और विवेक न होने के कारण उसका तथ्य ज्ञान भी पागल के ज्ञान के समान प्रमाणभूत–सम्यग्ज्ञान–नहीं कहा जा सकता।

(२) सम्यग्ज्ञान आत्मा के अनादिकालीन भवबन्धनों को काट कर आत्मा को बन्धनमुक्त बनाता है। 'सा विद्या या विमुक्तये।' जो ज्ञान आत्मा को बन्धनमुक्त नहीं कर सकता, वह ज्ञान नहीं, अज्ञान ही कहा जा सकता है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मुक्ति का हेतु न होकर जन्म-मरण की सन्तति की वृद्धि का हेतु होता है। अतएव वह मिथ्याज्ञान है।

साधारणतया ज्ञान तीखी तलवार के समान है। तलवार से आत्मरक्षण भी किया जा सकता है और आत्मवध भी। कुशल पुरुष उससे आत्मरक्षा करता है, मूर्ख आत्मवध कर लेता है।

मिथ्यादृष्टि के लिए उत्तम से उत्तम शास्त्र भी शस्त्र बन जाते हैं। वह प्राप्त ज्ञान को आशय की दुष्टता के कारण अहित का हेतु बना लेता है

संसार में समय-समय पर जो कुपन्थ प्रचलित हुए, उनके पुरस्कर्त्ता कौन थे ? भोले - भाले ज्ञानविहीन लोगों के चलाये कोई पन्थ नहीं चला, और न चल ही सकता है। उन पंथों के पुरस्कर्त्ता ऐसे ही लोग थे जिनमें ज्ञान तो ठीक - ठीक मात्रा में था, किन्तु वह मिथ्यात्व से

दूषित था। आज भी भयानक से भयानक अस्त्रशस्त्रों का निर्माण कौन कर रहे हैं ? उदजनबम और परमाणुबम सरीखे सर्वग्रासी दैत्यों को जन्म देने वाले कौन हैं ? ज्ञानविहीन किसी गँवार की देन वह नहीं हैं। जिन्हें दुनिया 'विज्ञानवेत्ता' कहती है, उनके ज्ञान ने ही जगत् को यह वरिष्ठ वरदान दिया है।

अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य की दृष्टि में निर्मलता नहीं आ जाती, उसकी प्रज्ञा सन्मार्ग को नहीं समझ लेती और उसमें आत्मोन्मुखता उत्पन्न नहीं हो जाती, तब तक उसके ज्ञान से न उसी का हित हो सकता है और न दूसरों का। ऐसी अवस्था में जो ज्ञान होता है, वह बन्धनवर्द्धक ही होता है, अतएव तात्त्विक दृष्टि से वह अज्ञान है।

(३) मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यदृच्छा पर अवलम्बित होता है। जैसा मन को भाया वैसा समझ लिया और जैसा समझ लिया, उसी की गांठ बांध ली ! उसका अभिनिवेश ऐसा उग्र होता है कि लाख समझाने पर भी वह अपनी मिथ्या मान्यता से नहीं डिगता। सम्यग्दृष्टि अपनी भूल को समझता है तो उसे स्वीकार करने में तनिक भी नहीं हिचकता, परन्तु मिथ्यादृष्टि अपनी भूल पर पर्दा डालने के लिये सौ नई भूलें करता है। ऐसी स्थिति में उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे कहा जा सकता है ?

(४) मिथ्यादृष्टि ज्ञान के वास्तविक फल से वंचित रहता है, इस कारण भी उसका ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

'ज्ञानस्य फलं विरतिः।' ज्ञान का फल है पापमय व्यापारों से विमुख होना, अश्रेयस्कर कार्यों से निवृत्त होकर श्रेयस्कर कार्यों में प्रवृत्त होने में ही ज्ञान की सफलता है। जिस ज्ञान के उत्पन्न हो जाने

पर भी यह फल प्राप्त नहीं होता, वह वस्तुतः ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता।

> तज्ज्ञानमेव न भवति,
> यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः,
> तमसः कुतोऽस्ति शक्तिः,
> दिनकर किरणाग्रतः स्थातुम् ? ॥

जब दिवाकर की प्रखर आलोकमयी किरणें लोक को आलोकित करती हैं, तब अन्धकार ठहर नहीं सकता। जिसकी विद्यमानता में भी अन्धकार विद्यमान रहता हो, उसे आलोक ही नहीं कहा जा सकता। ज्ञान आत्मिक आलोक है और राग-द्वेषादि कषाय आत्मिक अंधकार है। ज्ञानालोक का उदय होने पर कषायान्धकार ठहर नहीं सकता। जिस आत्मा में प्रबल कषायान्धकार मौजूद है, समझना चाहिए कि उसमें ज्ञान का उदय ही नहीं हुआ है।

कार्य-कारण का अविनाभाव प्रसिद्ध है और वह दुतरफा होता है; अर्थात् कार्य, कारण से ही उत्पन्न होता है और कारण, कार्य को उत्पन्न करता ही है। इस नियम के अनुसार जो कारण, कार्य का जनक नहीं, वह वस्तुतः कारण ही नहीं है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यदि वास्तविक ज्ञान होता तो वह नियमतः विरति रूप कार्य को उत्पन्न करता। किन्तु वह विरति उत्पन्न नहीं करता, अतएव उसे ज्ञान कहना अनुचित है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन का सहभावी ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्दर्शन से परिपूत ज्ञान आत्मा में हेय-उपादेय का विवेक जागृत करता है, आत्मा की कल्मष-कालिमा को दूर करता है और आत्मा को ज्योतिर्मय बना देता है।

ज्ञान की तरंगें

विविधता का कारण

जल अपने आप में एकरूप होने पर भी विविध उपाधियों के सम्पर्क से नाना रूप प्रतीत होता है। जब आसमान से बरसता है तो उसमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती। तदनन्तर वह नदी में पहुंच कर नदी का जल कहलाता है, सरोवर में पहुंच कर सरोवर का, कूप में जाकर कूप का और सागर में मिलकर सागर का कहलाने लगता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकार की पृथ्वी के संसर्ग से उसकी प्रकृति में भी अन्तर पड़ जाता है। एक जल हल्का और दूसरा भारी होता है। एक खारा, दूसरा मीठा हो जाता है। इस प्रकार मूल में एक प्रकार का जल होने पर भी संयोग से नाना नाम और नाना रूप धारण कर लेता है।

जीव के चेतनागुण की भी यही स्थिति है। मूल में—समस्त जीव एक-सी चेतना के धनी हैं, किन्तु अनेक प्रकार की उपाधियाँ उसमें विभिन्नता उत्पन्न कर देती हैं।

उन सब उपाधियों को साधारणतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ और कारण अर्थात् ज्ञान-जनक साधन। इन्हीं दो उपाधियों के कारण एक चेतनागुण अनेक, असंख्य और अनन्त रूप धारण कर लेता है।

जगत् के समस्त पदार्थ सामान्य विशेषात्मक हैं; अर्थात् सामान्य अंश और विशेष अंश का समन्वय ही वस्तु है। चेतना के द्वारा जब सामान्य अंश ग्राह्य होता है तब चेतना 'दर्शन' कहलाती है और जब वही चेतना वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करती है तो उसे 'ज्ञान' संज्ञा प्राप्त होती है। इस प्रकार विषयभेद से चेतना दर्शनचेतना या दर्शनोपयोग और ज्ञानचेतना या ज्ञानोपयोग के नाम से द्विविध बन जाती है।

चक्षु रूप साधन के द्वारा व्यापृत होने वाली दर्शन चेतना चक्षुदर्शन और चक्षुभिन्न इन्द्रियों द्वारा व्यक्त होने वाली अचक्षुदर्शन कहलाती है। जिस दर्शन चेतना में इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रहती और जो रूपी पदार्थों के सामान्य अंश को ही ग्रहण करती है, वह अवधिदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। समस्त रूपी-अरूपी पदार्थों के सामान्य अंश को विषय बनाने वाली चेतना केवल दर्शन कहलाती है। इस प्रकार विषय एवं साधन की विभिन्नता के कारण दर्शनोपयोग के चार भेद हैं।

ज्ञान के विभाग :

ज्ञानोपयोग के जो नाना भेद-प्रभेद शास्त्रों में वर्णित हैं, उनका आधार भी विषय और कारण की भिन्नता ही है। इन आधारों पर ज्ञान के मुख्य पाँच विभाग किये गये हैं[1] (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान।

---

[1]क—तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं,
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥ उत्त. अ. २८, गा. ४

ख—पंचविहेनाणे पण्णत्ते। तं जहा—अभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे, ओहिनाणे, मणपज्जवणाणे, केवलनाणे।

— राजप्रश्नीय - १६५

(१) मतिज्ञान—इसका दूसरा नाम आभिनिबोधिक ज्ञान है। इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से मूर्त्त और अमूर्त्त पदार्थों को आंशिक रूप से जानने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है।

(२) श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर मन के अवलम्बन से, शब्दार्थ के वाच्य - वाचकभाव संबन्ध के आधार पर होने वाला ज्ञान।

(३) अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही, सीधा आत्मा से होने वाला तथा रूपी पदार्थों को, मर्यादित रूप से जानने वाला ज्ञान।

(४) मनःपर्यायज्ञान—इन्द्रिय-मन की सहायता के बिना, मन की पर्यायों को साक्षात् रूप से जानने वाला एकदेश प्रत्यक्ष ज्ञान।

(५) केवलज्ञान—त्रिकाल और त्रिलोकवर्त्ती समस्त द्रव्यों, गुणों और पर्यायों को युगपत् विषय करने वाला सर्वोत्कृष्ट ज्ञान; जिसके होने पर आत्मा सर्वज्ञ पद का अधिकारी हो जाता है।

क्रममीमांसा :

मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि पाँच भेदों का जिस क्रम से यहाँ उल्लेख किया गया है, वही क्रम जैन आगमों में सर्वत्र प्रचलित है। सभी जैन सम्प्रदाय और सभी जैनाचार्य निर्विवाद रूप से इसी क्रम को स्वीकार करते हैं। इस क्रम की स्थापना में एक विशिष्ट अर्थ निहित है। यहाँ संक्षेप में उसकी चर्चा कर लेना उपयोगी, बोधप्रद और साथ ही मनोरंजक भी होगा।

पाँच ज्ञानों में से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्येक संसारी जीव को अवश्य प्राप्त रहते हैं। यह बात अलग है कि किसी आत्मा में वह

अत्यल्प मात्रा में हो और किसी में अपनी मर्यादा के अनुसार सर्वोत्कृष्ट मात्रा में; किन्तु ऐसा कोई संसारी जीव नहीं, जिसमें इनका सद्भाव न हो। अविकास की चरम सीमा को प्राप्त एकेन्द्रिय जीवों में भी इनकी सत्ता है।

इसके अतिरिक्त इन दोनों ज्ञानों की विद्यमानता में ही शेष ज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव इनकी गणना सर्वप्रथम की गई है।

मति-श्रुत में समानता :

मतिज्ञान के अनन्तर ही श्रुतज्ञान की गणना करने का कारण इन दोनों में निम्नलिखित बातों की समानता है :—

स्वामी की समानता—जो मतिज्ञान का स्वामी है, वह श्रुतज्ञान का भी स्वामी है और जो श्रुतज्ञान का स्वामी है, वह मतिज्ञान का भी स्वामी होता है। ऐसा कोई जीव नहीं जिसमें एक ज्ञान हो पर दूसरा न हो।

काल की समानता—काल का विचार दो प्रकार से किया जाता है—एक जीव की अपेक्षा और दूसरा सर्व जीवों की अपेक्षा। दोनों ही दृष्टियों से दोनों ज्ञानों का काल समान है। एक जीव की अपेक्षा छयासठ सागरोपम तक ये रहते हैं और सर्व जीवों की अपेक्षा सदैव रहते हैं।

कारण की समानता—मतिज्ञान का अन्तरंग कारण ज्ञानावरण का क्षयोपशम और बहिरंग कारण इन्द्रिय-मन है; श्रुतज्ञान भी इन्हीं कारणों से उत्पन्न होता है।

विषय की समानता—जैसे मतिज्ञान सर्व द्रव्यों को किन्तु असर्व पर्यायों को जानता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी।

परोक्षत्व की समानता—आत्मा को होने वाला ज्ञान यदि इन्द्रिय या मन के द्वारा होता है तो वह परोक्ष कहलाता है और इन्द्रिय-मन से न होकर सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। उक्त दोनों ज्ञान इन्द्रिय-मनोजनित होने के कारण परोक्ष हैं।

पौर्वापर्य :

इन समानताओं के कारण मति-श्रुतज्ञान का साथ-साथ और प्रारंभ में होना तो सुसंगत हो जाता है, फिर भी एक प्रश्न अभी शेष है। वह यह कि इन दोनों में भी मतिज्ञान का प्रथम और श्रुतज्ञान का द्वितीय स्थान क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है, अतएव उसी को प्रथम स्थान प्राप्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रुतज्ञान वस्तुतः मति का ही एक विशिष्ट भेद है।

मतिश्रुत व अवधिज्ञान में समानता :

इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का क्रम व्यवस्थित हो जाने के पश्चात् अवधिज्ञान का विचार प्राप्त होता है। इनके पश्चात् अवधिज्ञान को जो स्थान दिया गया है, उसका कारण उक्त दोनों ज्ञानों के साथ अवधिज्ञान की निम्न लिखित समानताएँ हैं:—

(१) कालिक समानता—मति-श्रुतज्ञान का जो काल एक और अनेक जीवों की अपेक्षा बतलाया गया है, वही अवधिज्ञान का काल है।

(२) विपर्यास की समानता—मिथ्यात्व का उदय होने पर जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान के रूप में विपरीत ज्ञान हो जाते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञान भी कुअवधिज्ञान (विभंगज्ञान) के रूप में परिणत होता है।

(३) स्वामीसमानता—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का स्वामी ही अवधिज्ञान का स्वामी होता है, यह स्वामित्व की दृष्टि से समानता है।

(४) लाभसमानता—जब किसी विभंगज्ञानी मनुष्य या देव आदि को सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है तो उसके तीनों अज्ञान मिट कर एक ही साथ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान बनते हैं। इस प्रकार तीनों ज्ञानों में लाभ अर्थात् उत्पत्ति की भी समानता है।

अवधि और मन:पर्याय में समानता :

अवधिज्ञान के पश्चात् मन:पर्याय ज्ञान को स्थान देने का कारण दोनों में पाई जाने वाली निम्नलिखित समानताएँ हैं :—

(१) छद्मस्थसमानता—जैसे अवधिज्ञान छद्मस्थ जीव को होता है, उसी प्रकार मन:पर्यायज्ञान भी छद्मस्थ को ही होता है।

(२) विषयसमानता अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है वैसे मन:पर्याय ज्ञान का विषय भी रूपी ही है।

(३) भावसमानता—जैसे अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव के अन्तर्गत है, अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मन:पर्याय ज्ञान भी क्षयोपशमजन्य है।

इन तीन बातों की समानता के कारण अवधिज्ञान के बाद मन:पर्यायज्ञान की गणना की गई है।

मन:पर्याय और केवल में समानता

मन:पर्याय के पश्चात् केवलज्ञान की गणना करने का प्रयोजन यह है कि जैसे मन:पर्यायज्ञान अप्रमत्त संयमी को होता है, उसी प्रकार

केवलज्ञान भी अप्रमत्त संयमी को ही प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त मत्र से अन्त में प्राप्त होने के कारण तथा सर्वोत्कृष्ट होने से भी उसे अन्त में स्थान देना योग्य है।

अनेक बातें

पांचों ज्ञानों के क्रम का विचार करने से उनके सम्वन्ध में अन्य अनेक बातें भी विदित हो जाती हैं। यथा—मति और श्रुत, यह दो ज्ञान परोक्ष और शेष तीन प्रत्यक्ष हैं। मति, श्रुत, अवधिज्ञान, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, दोनों को प्राप्त हो सकते हैं। जब वे मिथ्यादृष्टि को होते हैं तो अज्ञान (कुज्ञान–मिथ्याज्ञान) कहलाते हैं और जब सम्यग्दृष्टि को होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। मन:पर्याय और केवलज्ञान को मिथ्यादृष्टि प्राप्त नहीं कर सकता, अतएव उनमें विपर्यास के लिए अवकाश नहीं है। प्रारंभ के चार ज्ञान क्षायोपशमिक और केवलज्ञान क्षायिक है। अवधिज्ञान और मन:पर्यायज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी सिर्फ रूपी वस्तुओं को ही जानने में समर्थ होते हैं, अतएव देशप्रत्यक्ष हैं; जब कि केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। जगत् का कोई भी ज्ञेय उसका विषय मर्यादा से बाहर नहीं है।

ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः

साधन से सिद्धि

जिस विवेकवान् पुरुष ने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को परिज्ञात कर लिया है, जो आत्मा की अनादि-अनन्त सत्ता को असंदिग्ध रूप में पहचान चुका है और जिसे यह प्रतीति हो चुकी है कि ज्ञान और आनन्द की सत्ता आत्मा में ही है और अन्यत्र कहीं नहीं हैं; उसका एक मात्र लक्ष्य आत्मस्वरूपोपलब्धि ही हो सकता है। आत्मा के समस्त बन्धनों को काटना और आवरणों को दूर करना शुद्ध आत्मोपलब्धि है। यही सिद्धि और मुक्ति है।

कोई भी सिद्धि साधनों की समग्रता के विना उपलब्ध नहीं की जा सकती। विविध प्रकार की लौकिक सिद्धियाँ भी, जिनका महत्त्व क्षणिक होता है और जो अपने आपमें क्षुद्र एवं सारहीन हैं, साधनों का सकलता के विना प्राप्त नहीं की जा सकतीं, ऐसी स्थिति में जीवन की चरम और परम सिद्धिमुक्ति के लिए साधनसमग्रता अनिवार्य रूप से अपेक्षित हो, यह स्वाभाविक ही है।

यहाँ हमें विचार करना है कि क्या ज्ञान मुक्ति का अविकल साधन है?

आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं—सूत्र, १-१२-११

—ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष है।

इस प्रश्न के समाधान के लिए किसी भी लौकिक सफलता पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। एक मनुष्य रोगग्रस्त है और उसे उस रोग का निवारण करने वाली अमोघ औषधि का भलीभांति परिज्ञान है। क्या सम्भव है कि औषधि के ज्ञानमात्र से उसका रोग दूर हो जाए? नहीं।

जिसकी उदर-कन्दरा रिक्त है—जो तेज भूख से व्याकुल हो रहा है, वह षट्रस भोजन के परिज्ञान से ही तृप्ति के आनन्द का भागी हो सकता है? नहीं।

ज्ञान एक प्रकाश है

ज्ञान एक विशिष्ट प्रकार का प्रकाश है। उसकी सहायता से हम अपने जीवन के लक्ष्य को स्थिर कर सकते हैं, लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों को समझ सकते हैं और लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग में आने वाले विघ्नों को तथा उनके निराकरण के उपायों को जान सकते हैं। और इन सब चीजों को समीचीन रूप से जान लेना और निश्चित कर लेना अति महत्त्व की बात है, इन्हें जाने बिना लक्ष्य की सिद्धि संभव नहीं है। नेत्र मूंद कर, अन्धकार में चलने वाला मनुष्य अपनी मंजिल तक नहीं पहुँच सकता। वह ठोकर खाता है, टकराता है गिरता है और अपनी शक्ति का निष्फल व्यय करता है। कभी-कभी तो उसका चलना उसे मंजिल से और भी दूर ले जाता है।

ज्ञान का महत्त्व

इस प्रकार ज्ञान-प्रकाश की जो महत्ता है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शुद्ध ज्ञान के अभाव में आत्मा चौरासी के चक्कर में पड़ा भटक रहा है। अनादि काल से सुख प्राप्त करने के लिए आकाश-पाताल एक कर रहा है। वह अनन्त-अनन्त भवों में दुष्कर

अनुष्ठान कर चुका है। काया को काँटे की तरह कृश कर चुका है, तपस्या की तीव्रतर अग्नि में अपने आपको होम चुका है, कितनी ही वार जलसमाधि और अग्निसमाधि ले चुका है, व अनशन के भाड़ में अपने आपको झोंक चुका है, सांसारिक सुखों को जलाञ्जलि देकर, वनवास अंगीकार करके, वृक्ष से गिरे पके या सूखे पत्तों पर, कन्दमूल पर या हवा पर निर्भर रहकर प्राणों का उत्सर्ग कर चुका है ! परन्तु समीचीन ज्ञान के अभाव में इसका निस्तार नहीं हो सका।

ज्ञानाभाव में क्रिया-काय क्लेष है

आपने देखे होंगे शायद ऐसे तरुण तापस जो भीष्म ग्रीष्मकाल में, जब दिवाकर की प्रचण्ड आग्नेय रश्मियाँ आसमान से उतर कर धरातल पर हमला करती हैं और सृष्टि को आतपमय बना देती हैं, तव अतितप्त वालुका पर प्रावरण विहीन होकर आतापना लेते हैं ! घोर शिशिर में, जब जल भी जम कर बर्फ बन जाता है, हाथ-पैर जड़ हो जाते हैं, खून ठंडा पड़ जाता है और शीतल वायु कलेजे को कृपाण की तरह काटती है, तब जलाशय के तट पर समाधि में मग्न निश्चल खड़े रहते हैं। वर्षा के मौसम में मेघों की सघन घटा ने आकाश को काले चादर की तरह आच्छादित कर रखा है, क्षण भर भी विश्राम लिये बिना मूसलधार वर्षा हो रही है। मगर तपस्वीजी खुले आकाश में ध्यान धरे खड़े हैं !

किन्तु हन्त ! उनका यह घोर कायक्लेश ज्ञान के अभाव में ज्योति की एक छोटी-सी चिनगारी भी प्रज्वलित नहीं कर सका ! इससे उनकी आत्मा का लेश मात्र भी विकास न हो सका। उन्हें कष्ट सहिष्णुता के फलस्वरूप जागतिक वैभव—स्वर्ग का सुख मिल भी गया तो उससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ! सिद्धि के पथ पर तो वे एक डग भी आगे न बढ़ सके ! ज्ञान की ज्वाला में उनका कल्मष दग्ध न

हो सका। स्वर्ग का काल समाप्त होने पर वे पुनः ज्यों के त्यों कीट-पतंग आदि की निकृष्ट योनियों में आ पड़े ! किसी]ने यथार्थ ही कहा है—

मोहान्धकारे भ्रमतीह तावत्,
संसार दुःखैश्च कदर्थ्यमानः ।
यावद्विवेकार्क महोदयेन,
यथास्थितं पश्यति नात्मरूपम् ।

जब तक आत्मा रूपी आकाश में विवेक-सविता का महान् उदय नहीं होता और उसके प्रकाश में जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान नहीं लेता, तब तक जन्म-जरा-मरण की व्यथाओं से व्यथित होता हुआ मोह - अन्धकार में भटकता ही रहता है। उसकी पीड़ाओं का अन्त नहीं होता।

ज्ञान क्रिया का समन्वय

इस प्रकार साधना के क्षेत्र में सम्यग्ज्ञान का महत्त्व वचनागोचर है। तथापि इस लक्ष्य को स्वीकार किये बिना चारा नहीं कि उसकी एक मर्यादा है। प्रकाश पथप्रदर्शन कर सकता है, आपको गड़हे, ठूंठ और ठोकर से बचने के लिए सतर्क कर सकता है, मगर चला नहीं सकता। ज्ञान साधना के सन्मार्ग की ओर इंगित कर सकता है और उस सम्बन्ध की सही-सही जानकारी दे सकता है, मगर गति करना उसका दायित्व नहीं है। वह लक्ष्य तक पहुँचा नहीं सकता। लक्ष्य पर पहुँचने के लिए ज्ञान के प्रकाश में क्रिया करनी होगी—चलना होगा।

तो जैसे ज्ञान के अभाव में क्रिया अर्थशून्य है, उसी प्रकार क्रिया के अभाव में ज्ञान भी निष्फल है। साधना की सफलता के लिए दोनों का यथोचित समन्वय अनिवार्य है। 'न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति'—रथ चलेगा तो दोनों पहियों से चलेगा, एक से नहीं ।

हम जानते हैं उन दार्शनिकों को जो दावा करते हैं कि हमारे द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उनका वचन है—

> जटी मुण्डी शिखी वापि,
> यत्र कुत्राश्रमे रतः।
> पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो–
> मुच्यते नात्र संशयः।

जटाधारी हो, शिर मुंड़ाये हो या मस्तक पर ध्वजा की तरह लम्बी चोटी फहरा रही हो, किसी भी आश्रम में रत हो– गृहस्थ हो या त्यागी हो, विवाहित हो या अविवाहित हो, जिसने प्रकृति और पुरुष आदि पच्चीस तत्त्वों को पहचान लिया, वह मुक्ति के साम्राज्य का अधिपति हो गया! इस सचाई में ननु न च के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

समन्वय से मुक्ति

इसी प्रकार का मन्तव्य प्रदर्शित करने वाले कतिपय दार्शनिक और भी हैं वे अपने तत्त्वों के ज्ञान को मोक्ष का कारण बतलाते है। परन्तु निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह आश्वासन मिथ्या है। जब तक ज्ञान के साथ क्रिया का संगम नहीं होता, तब तक मुक्ति के जन्म की कोई संभावना नहीं की जा सकती। इसी कारण जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने कहा—

> हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
> पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ॥

विशे. भाष्य. गा. ११५९

अंधा और पंगु

जनहीन वन में, विधिवशात एक अंधा और एक पंगु मनुष्य पहुँच गया। अकस्मात् वन में दावानल सुलग उठा। प्रचंड आंधी के सहयोग से थोड़ी ही देर में चारों ओर यमराज की लपलपाती जिह्वा के समान आग की ज्वालाएँ अपना जौहर दिखलाने लगीं। ऐसे संकट के समय अंधे और पंगु दोनों को प्राणरक्षा की चिन्ता हुई। दावानल से त्राण पाने के लिए अन्धा दौड़ सकता था और वह दौड़ा भी। किन्तु नेत्रहीन होने के कारण वह उसी दिशा में दौड़ा जिस दिशा में अग्निज्वालाएँ भीषण नर्तन कर रही थीं। वह ज्वालाओं को आलिंगन करके उन्हीं में समा गया।

पंगु देख रहा था मगर चल नहीं सकता था। गतिसामर्थ्य के अभाव में वह देखते-देखते आग का भक्ष्य बन गया। इस प्रकार परस्पर निरपेक्ष रह कर दोनों ने अपने प्राण गँवा दिये। यहाँ अन्धा क्रिया का प्रतीक है और पंगु ज्ञान का। ज्ञाननिरपेक्ष क्रिया और क्रियानिरपेक्ष ज्ञान की यही स्थिति है। वे कार्यसाधक नहीं होते।

अगर दोनों में सहयोग होता तो दोनों की प्राणरक्षा हो सकती थी दोनों उस भयानक दावानल से बच सकते थे। अन्धे के कन्धे पर बैठ कर पंगु पथप्रदर्शन करता और पंगु उसे ज्वालाओं से रहित मार्ग से ले जाता तो दोनों सकुशल सुरक्षित स्थान पर पहुँच सकते थे।

ज्ञानी जन संसार को भीषण अटवी मानते हैं। यहाँ जन्म, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि से उत्पन्न होने वाले दुःखों का दावानल सुलग रहा है। प्राणीमात्र इस दावानल से बचने के लिए एवं सुरक्षित स्थान-मोक्ष-में पहुँच ने के लिए छटपटा रहे हैं। कोई ज्ञान के बल पर और कोई क्रिया के बल पर इस दावानल से बचने का प्रयास करते हैं; किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। अज्ञानी मोक्ष

के लिए क्रिया करता है, परन्तु उसकी क्रिया बन्ध का कारण बन जाती है। ज्ञानी छुटकारे का उपाय जानता है, परन्तु कोई उद्योग नहीं करता। ऐसी स्थिति में दोनों का त्राण नहीं है। त्राण हो सकता है उनका जो अपने जीवन में ज्ञान और सदाचार का, आचार और विचार का, ज्ञान और कृति का समन्वय करके चलते हैं। वही भवाटवी के संताप-दाह से छुटकारा पा सकते हैं और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। कहा है—

संजोग सिद्धीय फलं वयंति,
न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पगू य वणे समेच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥

रथ की गति दोनों चक्रों के सहारे होती है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया का संयोग होने पर ही मोक्ष-फल की प्राप्ति हो सकती है। अन्धा और पंगु दोनों मिल कर ही नगर में सकुशल पहुँच सकते हैं। अकेले-अकेले नहीं।

स्पष्ट है कि ज्ञान, क्रिया का और क्रिया, ज्ञान का पूरक है। दोनों अपने आपमें विकल हैं और मिल कर ही कार्यसाधक होते हैं। अतएव मुमुक्षु जनों को ज्ञान और चारित्र- दोनों की आराधना समान भाव से करना चाहिए। यही मोक्ष का राजमार्ग है और इस प्रकार के समन्वय में ही साधना की सफलता है। जिनके जीवन में ज्ञान-क्रिया का समुचित समन्वय हो सका, वे कृतार्थ हुए, धन्य हुए, और सदा के लिए समस्त दुखों और संतापों से मुक्त बन गये।

प्रकाश किरणें

मति ज्ञान:

जीव का उपयोग जब प्रवृत्त होता है और किसी वस्तु की ओर उन्मुख होता है तो सर्वप्रथम उसके सामान्य अंश - सत्ता - को ही ग्रहण करता है। तब वह दर्शन कहलाता है। तदनन्तर क्रमशः अग्रसर होता जाता है और सत्ता-सामान्य से आगे बढ़ कर अवान्तर सामान्य को ग्रहण करता है। तब उसे अवग्रह[1] कहते हैं। सामान्य को ग्रहण करने के पश्चात् वही उपयोग वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करने के लिए अभिमुख होता है, उस समय की उपयोग की अवस्था ईहा[2] कहलाती है। तत्पश्चात् जब विशेष अंश का निश्चय कर लेता है, तब उसे अवाय[3] संज्ञा प्राप्त होती है। अवाय की स्थिति में पहुँचने पर पदार्थ का निश्चय हो जाता हैं। अवाय के पश्चात् जो दृढ़तर ज्ञान

---

[1] 'अक्षार्थ योगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः"

—प्रमाण मीमांसा १।१।२६

[2] "अवगृहीतार्थ विशेषकांक्षणमीहा"

प्रमाण नय तत्त्वालोक—२।८

[3] ईहित विशेष निर्णयोऽवायः"

प्रमाण मीमांसा—१।१।२८

होता है वह धारणा[1] कहलाता है और उसके भी तीन रूप हैं।[2] (१) जब तक अवाय ज्ञान लगातार चालू रहता है, अविच्युति (उपयोग का च्युत न होना) कहलाता है। (२) उपयोग के च्युत हो जाने अर्थात् पलट जाने पर भी उसका संस्कार अन्तर में बना रहता है, वह संस्कार वासना कहलाता है। (३) कालान्तर में अनुकूल निमित्त मिलने पर वह दबा हुआ संस्कार उभर आता है—जागृत हो जाता है, उसे स्मृति कहते हैं।

मतिज्ञान के ये चार भेद कहलाते हैं। भेद और कुछ नहीं, उपयोग के क्रमिक विकास की विशिष्ट अवस्थाएँ मात्र हैं। अवस्थाओं के वर्गीकरण को ही भेदों के रूप में अभिहित किया गया है। इन भेदों पर ध्यान देने से समझ में आ सकता है कि प्रारम्भ में हमारा उपयोग कितना अक्षम या दुर्बल होता है और फिर किस क्रम से वह अधिकाधिक बारीकी की ओर बढ़ता जाता है।

वस्तु चाहे अपरिचित हो या परिचित हो, अथवा अतिपरिचित हो, ज्ञान इसी नियत क्रम से होता है। जिस वस्तु को हम प्रतिदिन देखते हैं, और जो अत्यन्त अभ्यस्त है, उस पर दृष्टि पड़ते ही ऐसा लगता है कि एकदम सीधा अवाय (निश्चयात्मक) ज्ञान हो गया है; तथापि ऐसा होता नहीं। उसमें भी प्रथम दर्शन, फिर अवग्रह ईहा और फिर अवाय होता है। अभ्यास की दशा में उपयोग इतनी शीघ्रता के साथ उत्तरोत्तर अग्रसर होता है कि हम उसके क्रम को परिलक्षित नहीं कर सकते। अत्यन्त जीर्ण वस्त्र को एक सिरे से दूसरे सिरे तक,

---

[1] स्मृतिहेतु धारणा

प्रमाण मीमांसा—१।१।२९

[2] (क) देखिए जैन तर्क भाषा - उपा. यशोविजय.

(ख) विशेषावश्यक भाष्य।

कोई तरुण वलवान् पूरी शक्ति के साथ फाड़ता है तो देखने वाले को सहसा ऐसा प्रतीत होता है मानो वह एक ही साथ फट गया हो। मगर वास्तव में कपड़े का एक-एक तन्तु और तन्तुगत एक-एक रेशा क्रम से ही फटता है। शीघ्रता के कारण जैसे क्रम का खयाल नहीं आता, उसी प्रकार ज्ञान से उक्त क्रम का भी हमें पता नहीं चलता।

विषयादि के भेद से मतिज्ञान के अट्ठाईस, तीन सौ छत्तीस और तीन सौ चालीस भेद भी प्रसिद्ध हैं, जो अन्यत्र देखे जा सकते हैं।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान में शेष चार ज्ञानों की अपेक्षा एक विशेषता है। चार ज्ञान मूक हैं, जब कि श्रुतज्ञान अमूक (मुखर) है। चार ज्ञानों से वस्तुस्वरूप का प्रतिभास हो सकता है, परन्तु प्रतिपादन नहीं हो सकता, जब कि शब्दात्मक होने से श्रुतज्ञान प्रतिपादक भी है।

श्रुत का ज्ञानात्मक रूप भावश्रुत कहलाता है और शब्दात्मक रूप द्रव्यश्रुत कहलाता है।[1]

श्रुतज्ञान के अपेक्षाभेद से दो विभाग हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य[2]। आचार आदि द्वादशविध अंगसूत्र अंगप्रविष्ट में सम्मिलित हैं और शेष तदनुसारी श्रुत अंगबाह्य में।

श्रुतज्ञान के चौदह[3] और बीस भेद भी प्रसिद्ध हैं। उनका विस्तार भय से यहाँ विवेचन नहीं किया गया है। श्रुतज्ञान का पूर्ण रूप से वर्णन होना संभव भी नहीं है। जिस ज्ञान को परिपूर्ण रूप में प्राप्त

---

[1] स्थानाङ्ग सूत्र, स्था. २

[2] (क) नन्दी सूत्र. (४४)

(ख) स्थानाङ्ग; २ उद्देशा–१ सू. ७१

(ग) विशेषावश्यक भाष्य व तत्त्वार्थ सूत्र

[3] नन्दी सूत्र.

करके छद्मस्थ जीव केवली की कोटि में जा पहुँचता है और 'श्रुतकेवली' कहलाता है और सर्वज्ञ के समान समस्त भावों का ज्ञाता बन जाता है, उस ज्ञान का पूर्ण वर्णन करना किस प्रकार संभव हो सकता है ?

अवधिज्ञान

अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है। देवों और नारकों को तो होता ही है, [1]तपश्चरण जनित विशिष्ट क्षयोपशम वाले मनुष्यों को और किसी-किसी तिर्यंच को भी हो सकता है।

तरतमता आदि के आधार पर अवधिज्ञान के अनेक भेद-प्रभेद हैं। न्यूनतम हो तो लोकाकाश के अंगुल के असंख्यातवें भाग में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है और अधिकतम हो तो समग्र लोक में स्थित समस्त रूपी पदार्थों को जान सकता है[2]। यही नहीं, अलोक में लोक के बराबर असंख्य खण्ड यदि और होते तो उन्हें भी वह जान सकता था, इतनी शक्ति उत्कृष्ट अवधिज्ञान में होती है।

कहा जा सकता है कि रूपी पदार्थों को तो हम इन्द्रियों के द्वारा जानते ही हैं, फिर अवधिज्ञान की विशेषता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है।

आप नेत्रों से रूपी पदार्थों को देखते हैं। किन्तु चश्मे का उपयोग करने पर कतिपय ऐसे पदार्थों को भी देखने लगते हैं, जिन्हें पहले

---

[1](क) स्थानाङ्ग सूत्र, ७१
नन्दीसूत्र - ७-८,
तत्त्वार्थ सूत्र १, २२-२३

[2]"रूपिष्ववधेः"—तत्त्वार्थ, १, २८

नहीं देख पाते थे। तत्पश्चात् यदि आप दूरवीक्षण यंत्र से देखें तो बहुत से ऐसे सूक्ष्म रजकण भी आपको दीखेंगे जो चश्मे से भी दृष्टि-गोचर नहीं हो रहे थे। अधिक शक्तिशाली यंत्र का उपयोग करने पर और अधिक सूक्ष्म पदार्थ नजर आने लगेंगे। उन्हें देखकर आप पुलकित और चकित हो उठेंगे और तब आपको ज्ञान होगा कि इस सृष्टि में दृश्य भाग की अपेक्षा अदृश्य भाग कितना अधिक है!

यह सब तो आपने स्थूल भौतिक उपकरणों से देखा है; इस कारण स्थूल पदार्थ ही आपकी दृष्टि में आए हैं, जिन्हें आप सूक्ष्म और अदृश्य समझ रहे हैं। जो पदार्थ वास्तव में सूक्ष्म हैं उन्हें तो आप अब भी नहीं जान पाये हैं। उन्हें जानने के लिए सूक्ष्म-अभौतिक-चेतनमय उपकरण अपेक्षित है और वह उपकरण अवधिज्ञान है।

अवधिज्ञान प्राप्त होने पर एक ऐसा अद्भुत संसार सामने आ जाता है, जिसे पहले कभी देखा न था और जो साधारण मानव की कल्पना से भी परे है। आकाश के एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त पुद्गलों की अवस्थिति! सूक्ष्म जन्तुओं से ठसाठस भरा हुआ भूतल और आसमान! कितना अपूर्व दर्शन होता है वह! इन्द्रियाँ बेचारी क्या जान सकती हैं उन्हें? यही अवधिज्ञान की मुख्य विशेषता है। उसकी इन्द्रियनिरपेक्ष प्रवृत्ति भी दूसरी विशेषता है जो इन्द्रियजनित ज्ञान में नहीं होती।

क्षयोपशमभेद के कारण अवधिज्ञान अनेक प्रकार[1] का होता है। कोई अवधिज्ञान उत्पन्न होकर और कुछ काल तक ठहर कर नष्ट

[1](क) स्थानाङ्ग ६ उद्दे. ३, सू. ५२६,

(ख) नन्दीसूत्र.

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र

(घ) विशेषावश्यक भाष्य.

हो जाता है कोई जीवनपर्यन्त या केवलज्ञानपर्यन्त बना रहता है। कोई जितनी मात्रा में उत्पन्न होता है, उससे परिणाम की विशुद्धि की वृद्धि के अनुसार बढ़ता जाता है और कोई परिणाम की मलिनता के कारण घटता चला जाता है। कोई ज्यों का त्यों बना रहता है - न उसमें हानि होती है, न वृद्धि ; जब कि किसी - किसी में हानि-वृद्धि दोनों होती रहती हैं। कोई धीरे-धीरे नष्ट होता है तो कोई विद्युत्प्रकाश की तरह सहसा विलीन हो जाता है।

कोई अवधिज्ञान एक ही दिशा में अपने ज्ञेय को जानता है। कोई अनेक दिशाओं में तो कोई सभी दिशाओं में। कोई जिस दिशा में जितनी दूर तक के पदार्थों को जानता है, उन्हें निरन्तर जानता है, अर्थात् उतनी दूर के लगातार सभी ज्ञेयों को जानता हैं; कोई सान्तर जानता है अर्थात् बीच-बीच के ज्ञेयों को छोड़ कर जानता है।

अवधिज्ञान के आकार भी अनेक प्रकार के होते हैं। यों तो ज्ञान में अपना कोई आकार नहीं होता, किन्तु जिस आकार के क्षेत्र में स्थित वस्तुओं को वह जानता है, वही आकार ज्ञान का कहलाता है।

नारकों का अवधिज्ञान तप्राकार (दीर्घ त्रिकोणाकार) होता है, भवनवासी देवों का पल्याकार, ज्योतिष्क देवों का झालर के आकार, बारह देवलोकों के वैमानिक देवों का मृदंग के आकार, ग्रैवेयकदेवों का पुष्प चंगेरी के आकार, अनुत्तर विमानवासी देवों का यवनालक के आकार का तथा मनुष्यों और देवों का अनियत अनेक प्रकार के आकार का होता है।

कोई अवधिज्ञान अनुगामी होता है, अर्थात् अवधिज्ञानी जहाँ भी जाता है, नेत्र के समान उसका ज्ञान भी साथ-साथ ही जाता है। कोई अवधिज्ञान इससे विपरीत–अननुगामी होता है। जहाँ स्थित रहे तो

ज्ञान उत्पन्न हुआ वहाँ जब तक स्थित रहे, तब तक तो रहता है, पर अन्यत्र जाते ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार अवधिज्ञान के अनेक रूप हैं।

मनःपर्यायज्ञान

यह ज्ञान मनुष्यगति के सिवाय अन्य गतिवर्त्ती जीव को नहीं होता। इसका आभ्यन्तर कारण मनः पर्यायज्ञानावरण का क्षयोपशम और वहिरंग कारण संयम की विशुद्धि है। संयम-विशुद्धि मनुष्य में ही संभव है। अतएव जो मुनि विशुद्ध, प्रवर्धमान अप्रमत्त संयम का धनी तथा लब्धिधारक होता है, वही मनः पर्यायज्ञान प्राप्त कर सकता है।[1]

साधारणतया मनःपर्यायज्ञान दो प्रकार का है—ऋजुमति और विपुलमति।[2] ऋजुमति उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है परन्तु विपुलमति अप्रतिपाती है— केवलज्ञान होने तक बना ही रहता है।[3]

अवधिज्ञान के साथ मनःप्रर्यायज्ञान का कुछ साम्य है तो कई बातों में वैषम्य भी है। जैसा कि अभी कहा चुका है, अवधिज्ञान चारों गतियों में प्राप्त किया जा सकता है किन्तु मनःपर्यायज्ञान मनुष्येत्तर प्राणियों को प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस ज्ञान की विषय-

[1] मणपज्जवणाणं पुण,
जणमणपरिचिंतियत्यपागडणं।
माणु सखेन्त निवद्धं,
गुणपच्चइयं चरित्तवओ
—आवश्यक निर्युक्ति ७६

[2] (क) ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः — तत्त्वार्थ सूत्र १।२४
(ख) स्थानाङ्ग सूत्र २ उद्दे. १, सू. ७१

[3] विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः — तत्त्वार्थ सूत्र १।२५

मर्यादा मनुष्यक्षेत्र तक ही सीमित है। अवधिज्ञान की अपेक्षा इसमें विशुद्धता भी अधिक होती है।

मनुष्य के चित्त में जब करुणा, लज्जा या क्रोध का भाव उदित होती है, तो उसकी प्रतिच्छाया चेहरे पर अंकित हो जाती है और उसे देख कर हम समझ लेते हैं कि इसके चित्त में क्या भाव उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार मनुष्य जब किसी वस्तु का चिन्तन करता है तो उसके मन की आकृति भी तदनुरूप बन जाती है। मनःपर्यायज्ञान मन की उन विविध आकृतियों को, चेहरे के समान, प्रत्यक्ष देखता है। यही वस्तुतः मनःपर्याय का स्वरूप है। जिन बाह्य पदार्थों का मनुष्य चिन्तन करता है, उन्हें भी मन.पर्यायज्ञानी जानता है, मगर अनुमान से।

केवल ज्ञान

जहाँ अपूर्णता है, वहाँ विविधता अवश्यंभावी है, किन्तु पूर्णता में विविधता के लिए अवकाश नहीं होता। केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है, अतएव उसमें विविधता नहीं है। स्वरूप से वह एक ही प्रकार का है। यद्यपि स्वामी या समय के भेद से उसमें भिन्नता का आरोप किया जाता है, तथापि ऐसे भेदों से उसकी एकरूपता खण्डित नहीं होती। केवलज्ञान चाहे सयोगकेवली का हो, अयोगकेवली का हो, या सिद्ध का हो एक ही प्रकार का होता है। सभी अवस्थाओं में केवली समान रूप से समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानते हैं।[1]

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही एक पक्ष चला आता है जो सर्वज्ञ की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि मानवीय ज्ञान कितना ही अधिक विकसित क्यों न हो जाय, आखिर उसकी मर्यादा अवश्य होनी चाहिए। कोई भी ज्ञान अनन्त नहीं हो सकता।

---

[1] सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य. — तत्त्वार्थ सूत्र. १।३०

फिर अनन्त भूत और अनन्त भविष्यत् को जान लेना तो एकदम ही असंभव है। इस प्रकार के मन्तव्य के सम्बन्ध में किंचित् प्रासंगिक विचार करलेना उचित होगा।

अनात्मवादियों की बात छोड़िए। जो लोग आत्मतत्त्व को स्वीकार करके भी उसे ज्ञानस्वरूप नहीं स्वीकार करते, उनके सम्बन्ध में भी यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जो लोग आत्मा को चैतन्यमय स्वीकार करते हैं, वे किस प्रकार सर्वज्ञता को अस्वीकार कर सकते हैं ?

किसी भी वस्तु में परस्पर विरोधी दो स्वभाव नहीं हो सकते। शब्द श्रोत्रग्राह्य है तो अश्रोत्रग्राह्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि आत्मा ज्ञानस्वभाव है तो अज्ञानस्वभाव नहीं हो सकता। यह बात न्यारी है कि आवरण के कारण आत्मा में ज्ञान के साथ अज्ञान की भी सत्ता पाई जाय, किन्तु अज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता। ज्ञान स्वभाव है तो अज्ञान विभाव होगा ही। विभावपरिणति तभी तक रहती है, जब तक आवरण हो और आत्मा मलीन हो। समस्त आवरणों और मलीनता के हट जाने पर आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में व्यक्त हो जाता है, विभावपरिणति पूर्णतया निश्शेष हो जाती है। ऐसी स्थिति में अज्ञान का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। अज्ञान का पूर्ण रूप से हट जाना और विशुद्ध ज्ञान का उत्पाद हो जाना ही सर्वज्ञता है।

पूर्ण आत्मविशुद्धि हो जाने पर भी अगर कुछ वस्तुएँ ऐसी रह जाती हैं, जिन्हें आत्मा नहीं जान पाता तो फिर यह भी मानना होगा कि पूर्णतः शुद्ध आत्मा में अज्ञान शेष रह जाने से अज्ञान भी आत्मा का स्वभाव है। तब क्या ज्ञान भी आत्मा का स्वभाव है और अज्ञान

भी आत्मा का स्वभाव है ? क्या परस्पर विरुद्ध दो स्वभाव एक ही वस्तु मे रह सकते हैं ?

इस प्रकार तर्क की कसोटी पर सर्वज्ञता खरी उतरती है। आवरणों का क्षय किस विधि से हो सकता है, इस प्रश्न का उत्तर जैनशास्त्रों में बहुत विस्तार से दिया गया है। अप्रस्तुत होने से उसका विचार यहाँ नहीं किया जाता।

• ● •

सम्यक्चारित्र : एक परिचयरेखा

सम्यक्चारित्र

सम्यक् चारित्र का महत्त्व :

साधना के तीन सोपानों में सम्यक् चारित्र तीसरा और अन्तिम है। अन्तिम का अर्थ यह है कि जब जीवन में चारित्र की साधना मूर्त रूप ग्रहण कर लेती है, तब आत्मा कृतार्थ हो जाता है, उसे चरम और परम फल प्राप्त हो जाता है, उसके अनादिकालीन संताप का, दुःख का, पीड़ा और व्यथा का अन्त आ जाता है। उसकी अपनी आध्यात्मिक निधि, जो समीपतर होने पर भी दूरतर थी, प्राप्त हो जाती है। अनन्त, अक्षय और अव्याबाध आनन्द का अमर स्रोत प्रवाहित होने लगता है। साधक का जो प्राप्य था, उसे प्राप्त हो जाता है और उसके बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

मुक्ति का साक्षात् कारण

यों तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी मोक्ष के कारण हैं ही, किन्तु साक्षात् कारण चारित्र ही है। सयोग केवली अवस्था में दर्शन एवं ज्ञान में परिपूर्णता आ जाती है, किन्तु चारित्र की पूर्णता के अभाव में मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ज्यों ही चारित्र पूर्ण हुआ कि मुक्ति तत्काल हो जाती है। इसी से चारित्र का महत्त्व समझ में आ सकता है।

गहराई से विचार करने पर प्रतीत होगा कि त्रिरूप मोक्षमार्ग में हेतु-फल भाव सम्बन्ध है। सम्यग्दर्शन का फल सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान का फल चारित्र है।

सामाइयमाईयं सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ।
तस्सवि सारो चरण, सारो चरणस्स निव्वाणं ।

श्रुतज्ञान की आद्य सीमा सामायिक और अन्तिम सीमा बिन्दुसार अर्थात् चौदहवाँ पूर्व है। इस पूर्व का ज्ञाता पुरुष श्रुतकेवली या पूर्ण श्रुतज्ञान हो जाता है। किन्तु इस सम्पूर्ण श्रुत का सार चारित्र है और चारित्र का भी सार निर्वाण है।

चारित्र की महत्ता

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से यद्यपि विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और उससे आत्मा आलोकपरिपूर्ण बन जाता है, किन्तु संयम-तप आदि चारित्रयोग के अभाव में कर्म कटते नहीं हैं। संयम वह प्राचीर है जो नवागत कर्मों के परिस्राव को निरुद्ध कर देता है और तप वह आत्मतेज है जो पुरासंचित कर्म-समूह को उसी प्रकार भस्म कर देता है जैसे घास-फूस को अग्नि। इस प्रकार संवरण और तपश्चरण का योग आत्मा को निष्कर्म बना देने में समर्थ होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के परिपाक से पुष्ट आत्मा सम्यक्चारित्र के लोकोत्तर प्रभाव से अपने ध्येय को प्राप्त करता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में

जैनसिद्धान्त के वेत्ता भलीभाँति जानते हैं कि आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ चौदह वर्णित की गई हैं। उनमें से प्राथमिक चार

भूमिकाएँ सम्यक्दर्शन के आश्रित हैं और आगे की समस्त भूमिकाएँ चारित्र पर ही निर्भर हैं। सम्यग्दृष्टि जीव की भूमिका चौथी है। सम्यक्त्व के बल से इससे आगे की भूमिका नहीं प्राप्त की जा सकती। उन्हें प्राप्त करने के लिए चारित्र की अपेक्षा है। देशचारित्र जब आत्मा में प्रकट होता है तो पाँचवीं भूमिका पर जीव पहुँचता है और सर्वविरति चारित्र प्राप्त होते ही छठी भूमिका आ जाती है। इसी प्रकार अग्रेतन भूमिकाएँ भी चारित्र के विकास पर अवलम्बित हैं। अध्यात्मशास्त्र का यह विधान चारित्र की महत्ता को समझने में अतीव उपयोगी है।

व्यावहारिक क्षेत्र में

तथ्य यह है कि—चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र हो, चाहे व्यावहारिक, चारित्र का मूल्य और महत्त्व निर्विवाद है। बड़े से बड़ा विद्वान् हो या वैज्ञानिक, यदि उसका जीवन सदाचार से एकरस नहीं हो गया है तो कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती है। उसके जीवन का विकास प्रस्फुटित नहीं होता। उसमें तेज नहीं आता। अतएव चारित्र के प्रति प्रेरणा करते हुए शास्त्रकार दृढ़ता के साथ चेतावनी देते हैं—

> संसारसागराओ उच्छूढो मा पुणो निवुड्डेज्जा।
> चरणगुण विप्पहूणो, वुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो॥

हे ज्ञानी, तू इस अहंकार का परित्याग करदे कि मैं श्रुतज्ञान से सम्पन्न हूँ, अतएव इसी के बल पर संसार-सागर से पार हो जाऊँगा—निर्वाण उपलब्ध कर लूँगा; क्योंकि इस प्रकार के अहंकार से ग्रस्त होकर चारित्र को अंगीकार न करने वाले, नाना शास्त्रों के ज्ञाता भी इस संसारसागर में डूब चुके हैं।

चारित्र की आवश्यकता

ज्ञान के द्वारा संसार और मोक्ष की यथार्थता, उनके कारण और संसार से पार होने के उपाय जाने जा सकते हैं, परन्तु पार होने के लिए तो चारित्र का ही सहारा लेना होता है।

एक जन्म की साधना से तीर्थंकरत्व की प्राप्ति नहीं होती। लगातार कई जन्मों में संचित शुभ संस्कारों के प्रभाव से ही तीर्थंकरपद, जो सर्वोच्च पुण्यपद है, प्राप्त होता है। जन्म-जन्म के तपोजनित सुसंस्कारों के परिपाक से उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञानों[1] के धारक होते हैं। ज्ञानमात्र से ही निस्तार संभव होता तो उन्हें प्रव्रज्या अंगीकार करने की क्या आवश्यकता थी? प्रव्रज्या अंगीकार करते ही उन्हें चतुर्थज्ञान मनःपर्याय[2] भी प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् भी वे घोर तपश्चरण क्यों करते हैं? जब चार ज्ञान के धारकों को भी चारित्र की उज्ज्वलता और पूर्णता प्राप्त करने के लिए घोरतर तप करना पड़ता है, तब साधारण प्राणी किस प्रकार अपने पाण्डित्य के बूते पर संसारसागर से पार होने की आशा कर सकता है?

आपने श्रुत-सागर के अनेक बहुमूल्य मोती बटोर लिये हैं, व्याकरण, साहित्य, दर्शन और विज्ञान में पारगामी पाण्डित्य प्राप्त कर लिया है, आप श्रेयस्-अश्रेयस् को समीचीन रूप से पहचानते हैं, किन्तु विकास की पगडंडी पर एक क़दम भी चलते नहीं, तो आपका ज्ञान आखिर किस काम का है?

---

[1] "मइ सुय ओहि तिण्णाणा जाव गिहे पच्छिम भवाओ"

सप्ततिस्थान प्रकरण द्वार-४४

[2] "जायं च चउत्थं मण णाणं" सप्ततिस्थान, द्वार-५१

सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पमुक्कस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥
अप्पं पि सुयमहीयं, पगासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
एक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्स पयासेइ ॥

—विशेषावश्यकभाष्य

अंधे के आगे सौ, हजार और करोड़ प्रदीप भी यदि प्रज्वलित कर दिये जाएँ तो उनसे उस का क्या उपकार होगा ? सूझते के लिए तो एक ही दीपक पर्याप्त है। जिसे जीवनशोधन के राजपथ पर अग्रसर होना है, उसके लिए अल्प श्रुत भी पर्याप्त है और जो बहुश्रुत होकर भी साधना के पथ पर नहीं चलता, उसे जीवन शोधन की दृष्टि से कुछ भी लाभ नहीं प्राप्त होता।

अभिप्राय यह है कि साधक जब अपना लक्ष्य सही तौर पर स्थिर कर लेता है, उसकी रुचि, प्रतीति और श्रद्धा सही दिशा में स्थिर होती है और वह हेय-उपादेय को सम्यक् प्रकार से समझ लेता है और इतनी भूमिका के आधार पर साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता है, तभी अपने साध्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है। रत्नत्रयी की इस त्रिवेणी में अवगाहन करने वाला साधक अपने चिरसंचित, जन्मजन्मान्तर में उपार्जित कल्मषों को धो डालता है और पूर्ण रूप से कलुषहीन-कर्म रहित होकर निज स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

—※—

चारित्र के दो रूप

गृहस्थ और त्यागी

गृहस्थ हो अथवा त्यागी, दोनों की श्रद्धा एकसी होती है; किन्तु चारित्र के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। गृहस्थ और गृहत्यागी की परिस्थितियाँ इतनी भिन्न होती हैं कि दोनों समान रूप से चारित्र का परिपालन नहीं कर सकते। गृहस्थ यदि साधु के कर्त्तव्य के पालन करने का उत्तरदायित्व वहन करना चाहे तो वह न ऐसा कर ही सकता है और न ऐसा वांछनीय है। वह न इधर का रहेगा और न उधर का रहेगा।

गृहस्थ और गृहत्यागी के उत्तरदायित्वों में महान् अन्तर है। गृहस्थ पर अपने परिवार का, जाति का, समाज का और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है। उसे अपना और परिवार का भरणपोषण करने के लिए नाना प्रकार की आजीविकाएँ अपनानी पड़ती हैं, समाज और देश के प्रति कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अनेक आयोजनाएँ करनी पड़ती हैं। सन्तान का शादी-विवाह करना पड़ता है। सैंकड़ों कार्य करने पड़ते हैं। इन सब कार्यों में होने वाला आरंभ-समारंभ सकल चारित्र का सर्वथा बाधक है।

यही नहीं, कई ऐसे कार्य भी हैं जिन्हें साधु नहीं कर सकता, मगर उन्हें गृहस्थ न करे तो वह अपने कर्तव्य से च्युत होता है।

उदाहरणार्थ-साधु सचित्त वनस्पति एवं जल का उपयोग नहीं करते किन्तु गाय-भैंस पालने वाला गृहस्थ यदि अपने आश्रित इन पशुओं को समय पर घास-पानी आदि आहार नहीं देता तो उसका अहिंसा व्रत दूषित होता है।

तात्पर्य यह है कि दोनों की परिस्थितियों में इतना वैषम्य है कि उनके कर्त्तव्य स्वतः अलग-अलग हो जाते हैं।

धर्म रसायन है

किन्तु धर्म तो प्राणीमात्र के लिए है। धर्म सार्व है; ऐसा लोकोत्तर रसायन है कि प्रत्येक जीवधारी उसका सेवन करके अमरत्व प्राप्त कर सकता है। हाँ, चाहिए अभिलाषा और योग्यता। वह न हो तो बात अलग है।

धर्म केवल त्यागियों के लिए ही होता तो संसार में उसकी इतनी महिमा न होती। मगर ऐसा नहीं है। धर्म के प्रवर्त्तक ज्ञानी पुरुष थे। उन्होंने धर्म का संकीर्ण स्वरूप जगत् के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया, वरन् उसे ऐसा विशाल रूप प्रदान किया है कि वह गृहस्थ और गृहत्यागी—दोनों के लिए आचरणीय और आदरणीय है जहाँ वह त्यागियों को साधना की सड़क पर आगे बढ़ाता है वहाँ रागियों के राग-मल को धोकर सुपथगामी बनाता है और सही मार्ग दर्शन करता है। भगवान् श्री महावीर ने अपने संघ में जहाँ साधुओं और साध्वियों को स्थान दिया, वहीं श्रावकों और श्राविकाओं को भी स्थान देकर चतुर्विध संघ की प्रतिष्ठा की है।

गृहस्थ का महत्त्व

इतना ही नहीं, भगवान् ने गृहस्थों के सम्बन्ध में समय समय पर जो प्रशंसापूर्ण उद्गार व्यक्त किये हैं और जो आज तक जैनागमों में

सुरक्षित रह गये हैं, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्म के प्रांगण में गृहस्थ का स्थान साधारण नहीं है। भगवान् का यह उदात्त उद्गार अनायास हो स्मृतिपटल पर प्रतिबिम्बित हो उठता है—

संति एगेहिं भिक्खूहिं,
गारत्था संजमुत्तरा।

—उत्तराध्ययन।

कितनेक ही गृहस्थ, भिक्षुओं से भी संयमोत्तर-संयम में बढ़े-चढ़े होते हैं।

कितने ही सूत्रों के स्वर्णपृष्ठ भगवान् श्री महावीर द्वारा की गई गृहस्थों की प्रशंसा से भरे हैं। कई वार भगवान् ने अपने साधु अन्तेवासियों को गृहस्थ के समक्ष बुला कर उसकी प्रशस्ति की और साधुओं को उस गृहस्थ से प्रेरणा ग्रहण करने के लिए उत्साहित किया है[1] यह प्रशंसा या तो गृहस्थ की तत्वज्ञता[2] के लिए या संयमनिष्ठा के लिए की गई है।

---

[1] कामदेव श्रावक की दृढ़ता को सलक्ष्य में रखकर श्रमण व श्रमणियों को सम्बोधित कर भ. ने कहा—

"अज्जो! समणोवासगा गिहिणो गिहिमज्झावसंता दिव्वमाणुसतिरिक्ख जोणिए उवसग्गे सम्म सहंति जाव अहियासेति, सक्का पुणाइं अज्जो! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसंगं गणिपीडगं (आहिज्जमाणेहिं उवसग्गा) सहित्तए जाव अहियासित्तए"

— उपासक-२

[2] (क) तं धन्नेसि णं तुमं कुंडकोलिया—

— उपासक-६

(ख) तं सुट्ठुणं तुमं मद्दुया! ते अन्नउत्थिए एवं वयासी साहूणं तुमं मद्दुया! जाव एवं वयासी। —भगवती—१८-७

भावना भव नाशिनी

धर्म का सम्बन्ध मुख्यतया भावना के साथ है। भावना की पवित्रता, उच्चता और दिव्यता गृहस्थावस्था में भी असमव नहीं है। चक्रवर्ती भरत ऊपर-ऊपर से कितने आरंभनिरत और दुनियादारी में फँसे दिखाई देते थे, मगर उनकी भावना की क्या स्थिति थी? भावना यद्यपि दृश्य वस्तु नहीं है और एक की भावना को दूसरा कोई देख नहीं पाता, तथापि कार्य-फल से उसका यथावत् अनुमान हो ही जाता है। भरत चक्रवर्ती केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करने के लिए भवन त्याग कर वनवासी नहीं बने थे। उन्होंने राजमहल में ही कैवल्य प्राप्त किया[1]। गृहस्थ यदि साधना के उच्चतर शिखर का स्पर्श नहीं कर सकता तो भरतजी किस बल पर केवली हो सके? यथार्थ ही कहा गया है:—

> वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्,
> गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
> अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
> निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

भवन और वन संयम के नियामक नहीं हैं। अधर्म और पाप भवन में ही अवरुद्ध रहते हैं और वन में उनका प्रवेश नहीं हो सकता, इस धारणा का कोई आधार नहीं है। वन में महान् तपस्वी, संसारविरक्त महात्मा विचरण करते हैं तो बटमार, डाकू और लुटेरे भी रहते है। भवम के सम्बन्ध में भी यही सत्य चरितार्थ है। भवनों में यदि उच्छृंखल विलास और पापाचार है तो धर्म और संयम का भी अभाव नहीं है।

---

[1] त्रिषष्ठि शलाका पुरुष, १ पर्व, सर्ग ६

गृह भी तपोवन

वनवासी का हृदय मोह, ममता, कामना, आसक्ति एवं अनुराग का अखाड़ा है तो वनवासी और वन्य पशु में क्या अन्तर है? और यदि भवन-निवासी की पाँचों इन्द्रियाँ विषयासक्त नहीं हैं, चित्त भोगों के विद्यमान होने पर भी, जल में पंकज के समान, लिप्त नहीं है तो वह किसी तपस्वी से क्या कम है? वस्तुतः अनासक्त पुरुष के लिए गृह भी तपोवन है।

इस प्रकार गृहस्थजीवन में भी धर्म एवं संयम की साधना-आराधना तो हो सकती है, मगर साधक को जब उत्कृष्ट आराधना अभीष्ट होती है उसे गार्हस्थिक वातावरण से अपना नाता तोड़ना पड़ता है। गृहत्याग से उत्कृष्ट सयम की साधना में सहायता मिलती है, क्योंकि त्याग-अवस्था में सहज ही जो निर्द्वंद्वता प्राप्त हो सकती है, गृहस्थावस्था में वह दुर्लभ है।

दो विभाग

इसी विचार भूमिका के आधार पर अधिकारी-भेद से जैनशास्त्रों में चारित्र के दो विभाग कर दिये गये हैं—सर्वविरति और देशविरति[1]। मन, वचन, काय से हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का सेवन स्वयं न करना, दूसरों से न करवाना और सेवन करने वाले का अनुमोदन न करना सर्वविरति— पूर्णरूपेण पापों का परित्याग कहलाता है और आंशिक रूप से इन पापों का त्याग करना देशविरति है।

स्पष्ट है कि सर्वविरति और देशविरति के मूल आधार में कोई अन्तर नहीं है; अन्तर है सिर्फ उनके आचरण की मर्यादा में। जागतिक उत्तरदायित्वों से मुक्त अनगार जिन हिंसा आदि पापों का त्रियोग और त्रिकरण से परित्याग करता है, उन्हीं को गृहस्थ अपनी शक्यता के अनुसार आंशिक रूप में त्याग करता है।

---

१ स्थानाङ्ग २, उद्देशक १, सूत्र-७२.

ज़िन्दगी के हीरे

पात्रता :

नीति और धर्म का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारणतया दोनों का पृथक्करण करना भी कठिन हो जाता है। वास्तव में नीति, धर्म की नींव है। इमारत की मज़बूती नींव की दृढ़ता पर निर्भर है। इसी प्रकार धार्मिकता का प्रधान आधार नैतिकता है। जिस मनुष्य के जीवन में नैतिकता का कोई मूल्य नहीं है, उसमें धार्मिकता का अंकुर पनप नहीं सकता। अतएव अनिवार्य है कि धर्म की प्रतिष्ठा से पहले जीवन में नीति की प्रतिष्ठा की जाय।

मार्गानुसारी के गुण

जैनसाहित्य में जीवन को नीतिमय बनाने के लिए आवश्यक कतिपय विषयों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें 'मार्गानुसारी के गुण[१]' कहते हैं। धर्ममार्ग का अनुसरण करने वाले गृहस्थ को ये गुण अवश्य प्राप्त करने चाहिए। इनके अभाव में धार्मिकता, प्रदर्शन और उपहास की वस्तु बन जाती हैं। वे गुण इस प्रकार हैं—

पहली बात—गृहस्थ न्याय-नीति से ही धनोपार्जन करे। मित्रद्रोह, स्वामीद्रोह, राज्यद्रोह, रिश्वत, ब्लैक मार्केटिंग, चोरी, डकैती आदि

---

[१] योगशास्त्र प्रथम प्रकाश ४७ से ५६ श्लोक.

अनैतिक साधनों को अपनाना धार्मिकता का गला घोंटना है। इससे समाज में अव्यवस्था, उच्छृंखलता और अशान्ति उत्पन्न होती है। व्यक्ति का जीवन भी निन्दनीय और अशान्त बन जाता है।

दूसरी बात—समाज में जो ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध शिष्ट जन हैं, उनका यथोचित सन्मान करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना और उनके आचार की प्रशंसा करना।

तीसरी बात—समान कुल और आचार-विचार वाले, स्वधर्मी किन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्न जनों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करना।

चौथी बात—चोरी, परस्त्रीगमन, असत्यभाषण आदि पापकर्मों का ऐहिक-पारलौकिक कटुक विपाक जान कर पापाचार का त्याग करना।

पांचवीं बात—अपने देश के कल्याणकारी आचार-विचार का और संस्कृति का पालन-संरक्षण करना और विदेशी व्यवहार की नकल न करना।

छट्ठी बात—दूसरे की निन्दा न करना।

सातवीं बात—ऐसे मकान में निवास करना जो अधिक खुला और अधिक गुप्त न हो, जो सुरक्षा वाला भी हो और जिसमें अव्याहत वायु एवं प्रकाश आ सके।

आठवीं बात—सदाचारी जनों की संगति करे।

नौवीं बात—माता-पिता का सन्मान-सत्कार करना, उन्हें सब प्रकार से सन्तुष्ट रखना।

दूसवीं बात—जहाँ स्वचक्र या परचक्र का भय हो, वातावरण शान्तिप्रद न हो, जहाँ रहने से निराकुलता के साथ जीवन यापन करना कठिन हो, ऐसे ग्राम या नगर में निवास न करना।

ग्यारहवीं बात—देश, जाति एवं कुल से विरुद्ध कार्य न करना, जैसे मदिरापान आदि।

बारहवीं बात—देश और काल के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करना।

तेरहवीं बात—आय से अधिक व्यय न करना और अयोग्य क्षेत्र में व्यय न करना।

चौदहवीं बात—धर्मश्रवण की इच्छा रखना, अवसर मिलने पर श्रवण करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, उन्हें स्मृति में रखना, जिज्ञासा से प्रेरित होकर शास्त्रचर्चा करना, विरुद्ध अर्थ से बचना, वस्तुस्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करना और तत्त्वज्ञ बनना; बुद्धि के इन आठ गुणों को प्राप्त करना।

पन्द्रहवीं बात—धर्मश्रवण करके जीवन को उत्तरोत्तर उच्च और पवित्र बनाना।

सोलहवीं बात—अजीर्ण होने पर भोजन न करना, यह स्वास्थ्यरक्षा का मूल मंत्र है।

सतरहवीं बात—समय पर प्रमाणोपेत भोजन करना, स्वाद के वशीभूत हो अधिक न खाना।

अठारहवीं बात—धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करना कि जिससे किसी में बाधा उत्पन्न न हो। धनोपार्जन के

विना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता और गृहस्थ काम पुरुपार्थ का भी सर्वथा त्यागी नहीं हो सकता, तथापि धर्म को वाधा पहुँचा कर अर्थ-काम का सेवन न करना चाहिए।

उन्नीसवीं वात—अतिथि, साधु और दीन जनों का यथायोग्य आदर करना।

वीसवीं वात—असत् के लिए आग्रहशील न होना।

इक्कीसवीं वात—सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणों के प्रति पक्षपात होना और इन गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना।

वाईसवीं वात—अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन न करना।

तेईसवीं वात—देश, काल, वातावरण और स्वकीय सामर्थ्य का विचार करके ही कोई कार्य प्रारंभ करना।

चौवीसवीं वात—आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुपों को अपने घर आमंत्रित करना, आदरपूर्वक विठलाना, सन्मानित करना और उनकी यथोचित सेवा करना।

पच्चीसवीं वात—माता, पिता, पत्नी, पुत्र आदि आश्रितों का यथायोग्य भरण-पोपण करना, उनके विकास में सहायक वनना।

छव्वीसवीं बात—दीर्घदर्शी होना। किसी भी कार्य को प्रारभ करने से पूर्व ही उसके गुणावगुण पर विचार कर लेना।

सत्ताईसवीं वात—विवेकशील होना। जिसे हित-अहित, कृत्य-अकृत्य का विवेक नहीं होता, उस पशु के समान पुरुप को अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ता है।

अट्ठाईसवीं बात—गृहस्थ को कृतज्ञ होना चाहिए। उपकारी के उपकार को विस्मरण कर देना योग्य नहीं।

उनत्तीसवीं बात—अहंकार से बचकर विनम्र होना चाहिए। विनयवान् पुरुष सर्वत्र प्रशंसा पाता है और आदृत होता है।

तीसवीं बात—लज्जाशील होना चाहिए। लज्जाशीलता से मनुष्य बहुत से दुर्गुणों और पापों से बच जाता है।

इकत्तीसवीं बात—करुणाशील होना चाहिए। करुणा सम्यक्त्व का अंग है, धर्म का मूल है।

बत्तीसवीं बात—सौम्य होना चाहिए।

तैंतीसवीं बात—यथाशक्ति परोपकार करना चाहिए।

चौंतीसवीं बात—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य, इन आन्तरिक रिपुओं से बचना चाहिए।

पैंतीसवीं बात—इन्द्रियों को उच्छृंखल न होने देना चाहिए। इन्द्रियविजेता गृहस्थ ही धर्म का आराधन करने की पात्रता प्राप्त करता है।

गृहस्थ के जीवन में इन सद्गुणों की प्रतिष्ठा होगी तो उसमें धार्मिकता के अंकुर अनायास ही पनप उठेंगे। ये गुण गृहस्थधर्म की पात्रता की प्राप्ति के साधन हैं।

दुर्व्यसन

इन उल्लिखित गुणों के साथ, गृहस्थधर्म को धारण करने से पूर्व, कुछ और बुराइयों से भी बचना आवश्यक है। वे बुराइयाँ इतनी भयंकर हैं कि उनके रहते धार्मिकता तो क्या, भद्रता भी जीवन में नहीं

आ सकती। जैनधर्म में उन्हें 'दुर्व्यसन'[1] की संज्ञा प्रदान की गई है और वे मुख्य रूप से सात हैं :—

द्यूत :

जुआ खेलने की कुटेव से, कौन-से पाप का प्रवेश नहीं हो जाता? जुआरी सर्वत्र निन्दनीय और अविश्वस्त गिना जाता है। इसका फल कभी-कभी अत्यन्त कटुक होता है और वह समस्त जीवन को नष्ट-भ्रष्ट बना देता है। 'धर्मराज' की गौरवाई पदवी से विभूषित युधिष्ठिर जैसे शक्तिशाली पुरुष को जुए की बदौलत कितनी विपदाओं का सामना करना पड़ा, यह सर्वप्रसिद्ध है। राज्य से हाथ धोना पड़ा! द्रौपदी जैसी सती महिला के घृणाजनक घोरतम अपमान का कड़ुवा घूंट पीना पड़ा! दीर्घ काल तक जंगलों में छिपे-छिपे भटकना पड़ा! महाभारत करके कुल और देश की असीम क्षति बर्दास्त करनी पड़ी। पश्चात्ताप के दावानल का ईंधन बनना पड़ा! उन्हीं को नहीं, उनके प्रबल बलशाली भाइयों को भी लोमहर्षक यातनाएँ सहनी पड़ी!

और नल जैसे महाराजा को दर-दर का भिखारी किसने बनाया था? जुआ ने हीन?

जुआ ऐसा उन्माद है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य आँख रहते अंधा और मस्तिक की नसें ठीक रहते पागल हो जाता है। वह अपने भविष्य को भूल जाता है। परिवार को घोर संकट में डाला देता है! अतएव धर्म-मार्ग के अनुयायी को इस दुर्व्यसन से बचना चाहिए।

मांसभक्षण :

यह निर्दयता और पशुता की सब से बड़ी निशानी है। वह मनुष्य, मनुष्य नहीं, पिशाच है जो अपने जैसे चलते-फिरते और पीड़ा

---

[1] देखिए—गौतम कुलक.

से प्रत्यक्ष आर्ति अनुभव करते प्राणी की जीवनलीला समाप्त करके उसे जीभ के क्षणिक सतोष के लिए, उदरस्थ कर जाता है।

मानव, सभ्यता के उच्च शिखर पर आरूढ़ कहलाता है, किन्तु उसकी मांसभक्षण की आदत सिद्ध करती है कि उसमें पशुता का निम्न स्तर अब भी मौजूद है। मनुष्य भक्षी मनुष्य असभ्य और असंस्कारी गिना जाता है तो पशुभक्षी मनुष्य को सभ्य और संस्कारी कैसे कहा जा सकता है? मनुष्य में जो चेतना है, वही क्या पशु में नहीं है? उसे सुख-दुख का अनुभव नहीं होता? उस निर्दय और नृशंस मनुष्य के वज्र-कठोर अन्तःकरण में धर्म का मृदुल अंकुर कदापि नहीं उग सकता जो पंचेन्द्रिय प्राणी की हत्या से उत्पन्न मांस से अपनी जिह्वा को तृप्त करता है। अतएव जो धर्मसाधना के पथ का पथिक बनना चाहता है, उसे अपना चित्त कोमल और करुणामय बनाना होगा और मांस भक्षण जैसे राक्षसी कृत्य से बचना होगा।

मदिरापान

मदिरापान के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। यह ऐसी बुराई है जिसे इसका सेवन करने वाले भी घोर बुराई मानते हैं। जो एक बार मदिरापान का व्यसनी बन चुका है, वह इतना लाचार, असमर्थ एवं सत्वहीन बन जाता है कि उससे बचना चाह कर भी नहीं बच सकता। मदिरापान से किस प्रकार आबाद घर बर्बाद होते हैं किस प्रकार उदीयमान जीवन विनष्ट हो जाता है और किस प्रकार परिवार का स्वर्ग श्मशान बन जाता है, यह एक रोमांचकारी करुण कहानी है, जिसे भुक्तभोगी भलीभाँति जानते हैं। अतएव जो चाहता है कि उसकी इंसानियत का दिवाला न निकले, उसे मदिरापान से कोसों दूर रहना चाहिए।

खेद है कि भारत जैसे धर्मप्रधान देश में यह बुराई अब भी मौजूद है, जब कि देश स्वाधीन हो चुका है। भारत सरकार अगर प्रजाजीवन की कुशल चाहती है तो उसे शीघ्र से शीघ्र मदिरा के आयात, निर्माण और सेवन पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। जिस देश की दरिद्र प्रजा भरपेट भोजन नहीं पाती, उस देश में करोड़ों रुपये मदिरापान में बर्बाद हों और परिणामस्वरूप करोड़ों जीवन अकर्मण्य, मुर्दार और निकम्मे बन जाएँ, उस देश का प्रजावत्सल शासन कैसे यह सहन कर सकता है, यह विस्मय का विषय है।

वेश्यागमन

यह दुर्व्यसन कुल की कीर्ति पर कलंक की कालिमा पोतने वाला है! विश्वासघात का प्रकट विज्ञापन है। सभ्यता और शिष्टता का दिवाला है! उस देश और समाज को कैसे सभ्य कहा जा सकता है, जिसकी नारियाँ उदर की ज्वाला को शान्त करने के लिए अपनी इज्जत-आबरू और शरीर को बेचने के लिए विवश होती हैं।

सन्तोष का विषय है कि शासन का ध्यान इस बुराई की ओर आकर्षित हुआ है और वेश्यावृत्ति के उन्मूलन करने के प्रयत्न चल रहे हैं।

शिकार

मांसभक्षण और शिकार का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथापि कभी-कभी केवल मनोरंजन के लिए भी शिकार किया जाता है। पर बहुत बार मैं सोचा करता हूँ, वह कैसा मन है, और किसका मन है, जो निरपराध जीवधारियों की जीवनलीला समाप्त करके रंजित होता है? वह मानव का मन नहीं हो सकता, किसी पिशाच का, दैत्य का, राक्षस का ही मन हो सकता है। सहृदय और शिष्ट पुरुष किसी के चित्त को आघात पहुँचाने वाला उपहास वचन भी नहीं कहते तो किसी मूक

गरीब प्राणी के प्राणों का मनोरंजन के लिए घात किस प्रकार कर सकते हैं ? शिकार का व्यसन अत्यन्त घृणित व्यसन है और जो पापभीरु हैं. वह इसे अपना नहीं सकता। इस व्यसन के रहते गृहस्थ के योग्य चारित्र (गृहस्थधर्म) का पालन नहीं हो सकता।

चौर्य कर्म

चोरी की कुटेव भी गृहस्थधर्म का विघात करने वाली है। जो मनुष्य इस दुर्व्यसन का शिकार हो जाता है उसे चोर समझ कर लोग घृणा और शंका की दृष्टि से देखते हैं और उसका विश्वास नहीं करते। चोर का चित्त क्षण भर के लिए भी शान्ति नहीं पाता। उसके मन में सदैव उथलपुथल व्यग्रता और व्याकुलता बनी रहती है। धर्म का परिपालन करने की पात्रता प्राप्त करने के लिए इस व्यसन से दूर रहना भी आवश्यक है।

परस्त्री गमन

यह विषयासक्ति का वर्धक, समाज की सुव्यवस्था का विनाशक, और अनेक भयंकर अनर्थों तथा पापों का जनक कुव्यसन है।

चोरी और परस्त्री गमन का त्याग चारित्र के आधार भूत पाँच व्रतों में सम्मिलित है। व्रतों की चर्चा में उन पर विशेष प्रकाश डाला जाएगा।

इन सात दुर्व्यसनों का त्यागी ही गृहस्थ धर्म का पात्र बनता है। अतएव लौकिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से इनसे बचना आवश्यक है।

मार्गानुसारी के ये गुण जिन्दगी के हीरे हैं, जो जिन्दगी को चमकाते हैं, बहुमूल्य बनाते हैं और दुर्व्यसन, जीवन को निरस व सत्व हीन बनाते हैं। साधक का कर्तव्य है कि वह दुर्व्यसनों का परित्याग कर सद्गुणों को ग्रहण कर जीवन को सुखमय, मंगलमय बनावें।

श्रावक धर्म

देशविरति :

जीवादि नव तत्त्वों, षट्द्रव्यों, पांच अस्तिकाय आदि वीतराग प्ररूपित समस्त भावों पर यथार्थ श्रद्धान और उनके सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न तथा पूर्वोक्त पात्रता प्राप्त करने वाला मुमुक्षु मुक्तिमार्ग में अग्रसर होता है और समस्त पापों का परित्याग करके पूर्ण संयममय जीवन यापन करने को उद्यत होता है। उसकी अन्तरतर की भावना यही होती है कि मेरी आत्मा में पाप की कालिमा का लेशमात्र भी स्पर्श न हो। तथापि जब तक वह कषायिक दुर्बलता से पर्याप्त रूप से पिण्ड नहीं छुड़ा लेता और सर्वविरतिचारित्र के लिए आवश्यक प्रत्याख्यानावरण कषाय पर विजय नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक अभिलाषा और भावना होने पर भी उसे सर्वविरतिचारित्र की प्राप्ति नहीं होती। अनन्तानुबंधी कषाय के उदय को नष्ट करके वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर सका था। तत्पश्चात् जब देशविरतिविघातक अप्रत्याख्यानावरण कर्म का भी अभाव हो जाता है, मगर प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है, तब देशविरतिचारित्र का प्रादुर्भाव होता है।

देशविरतिचारित्र की सीमा बहुत विस्तृत है। साधक अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार न्यूनाधिक रूप में व्रतों एवं नियमों को अंगीकार

करते हैं। तथापि मध्यम रूप से उसका स्वरूप बारह व्रतों का तथा उन व्रतों की सुरक्षा के लिए आवश्यक नियमों का पालन करना है। बारह व्रतों में पाँच अणुव्रत, -तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं। संक्षेप में इनका परिचय यों है—

पाँच अणुव्रत[1]

१– अहिंसाणुव्रत—निरपराध त्रस जीवों का सकल्पपूर्वक वध न करना।

२– सत्याणुव्रत—स्थूल असत्य भाषण न करना, अर्थात् जिस असत्य से अनर्थ उत्पन्न हो सकता है, जिसके प्रयोग से किसी को क्षति होती हो, किसी की प्रतिष्ठा को बट्टा लगता हो और जो असत्य लोकनिन्दित हो, उसका प्रयोग न करना।

३– अस्तेयाणुव्रत—राज्यदण्डनीय चोरी न करना।

४– ब्रह्मचर्याणुव्रत—परस्त्रीगमन न करना और स्व स्त्री गमन में भी मर्यादायुक्त होना।

५– परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—तृष्णा और लालसा को सीमित करने और व्याकुलता से बचने के लिए सचित्त, अचित्त एवं मिश्र परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेना।

---

1. (क) हरिभद्रीय आवश्यक अध्याय-६
   (ख) स्थानाङ्ग ५. उ. १ सूत्र-३८६
   (ग) उपाशक दशाङ्ग अध्य. १ सूत्र-७
   (घ) धर्म संग्रह,
   (ङ) हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"
   "देशसर्वतोऽणु महती — तत्त्वार्थ अ. ७-१-२

तीन गुणव्रत[1]

६– दिग्व्रत—दशों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा करके, उसका उल्लंघन न करना।

७– उपभोग परिभोग परिमाण—इस व्रत में, एक ही वार काम में आने योग्य अन्नादि तथा पुनः पुनः भोगने योग्य वस्त्रादि पदार्थों की मर्यादा की जाती है। यह भोगोपभोग परिमाण व्रत, मूल व्रत, (परिग्रह परिमाण) की पुष्टि के लिए आवश्यक है। दोनों का उद्देश्य जीवन की वढी हुई अमर्याद आवश्यकताओं को नियंत्रित करना है। जब तक मनुष्यजीवन में सन्तोषवृत्ति का उदय नहीं होता और आवश्यकताओं को नियंत्रित एवं संकुचित नहीं किया जाता, तब तक जीवन शान्तिमय, आकुलतारहित और धर्मोन्मुख नहीं बन सकता। आज जो सर्वव्यापी अशान्ति दिखलाई देती है, उसका विषमय मूल आवश्यकताओं की अनापसनाप वृद्धि में ही है। सुख-सन्तोष की प्राप्ति के लिए यह दोनों व्रत अनिवार्य हैं।

८– अनर्थदण्डविरमण—शरीररक्षा आदि के लिए अनिवार्य आवश्यक दड अर्थदण्ड कहलाता है और निरर्थकदण्ड अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करदेने से अनायास ही वहुत से पापों से वचाव हो सकता है।

चार शिक्षाव्रत :[2]

६– सामायिकव्रत—आर्त्त-रौद्र ध्यान का तथा पापमय कार्यों का त्याग करके एक मुहूर्त्त पर्यन्त समभाव में रहना सामायिक हैं। इस

[1] वेही उपरोक्त ग्रन्थ।

[2] आवश्यक वृहद्वृत्तिः प्रत्याख्यानाध्ययन–आचार्य हरिभद्र

(ख) प्रथम पञ्चाशक गाथा–२५ से ३२ तक।

व्रत मे समग्र जीवन को समभावमय बनाने का अभ्यास किया जाता है।

१०– देशावकाशिकव्रत—दिशाव्रत में किये हुए परिमाण को दिन में, रात्रि में या प्रहरादि काल तक के लिए और अधिक संक्षिप्त कर लेना।

११-पौषधव्रत—पर्व तिथियों में तपस्या करना, सावद्य क्रियाओं का त्याग करना, ब्रह्मचर्य पालना, शरीरशोभा का त्याग करना।

पूर्ण संयममय जीवन यापन करना श्रावक का मनोरथ होता है। यह मनोरथ, मनोरथ ही न बना रहे, उसके लिए आवश्यक तैयारी भी हो उसका पूर्वाभ्यास हो और मुनिजीवन व्यतीत करने की क्षमता गृहस्थजीवन में ही प्राप्त हो जाय, इत्यादि दृष्टियों से यह व्रत महत्त्वपूर्ण है।

१२– अतिथिसंविभाग—अतिथियों को अर्थात् पूर्ण संयम की साधना में निरत त्यागीजनों को आहारादि प्रदान करना।

श्रावक के यह बारह व्रत देशविरति कहलाते हैं। शास्त्रों में इनका विशद वर्णन है, अतएव यहाँ संक्षेप में ही उल्लेख किया गया है। मोक्ष की साधना का क्रम किस प्रकार अग्रसर होता है, यह समझने के लिए इन व्रतों के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार हैं, जो प्रसिद्ध हैं। सातवें व्रत के अतिचारों में विशिष्ट पापजनक व्यापारों और आजीविकाओं का भी समावेश होता है।

व्रत विधान क्यों !

व्रतों के स्वरूप पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि व्रतविधान के द्वारा जीवन को अधिक से अधिक नियन्त्रित करने का सुन्दर प्रयास किया गया है। किस प्रकार जीवन अधिक से अधिक त्याग की ओर प्रगति कर सके, हल्का बन सके, पापाचार से बचाव हो सके, सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सके और अन्त में पूर्ण संयम के योग्य बन सके, यही दृष्टिकोण इसमें ओतप्रोत है।. इसी उद्देश्य को और अधिक समीप लाने के लिए श्रावक के लिए भी षट् आवश्यक क्रियाओं-सामायिक, प्रतिक्रमण आदि का विधान किया गया है।

卐

श्रमण धर्म

सर्वविरति

मनुष्यों का अधिक भाग ऐसा है जो अपने जीवन को, जीवनरक्षा के प्रयासों में ही खपा देता है। अन्न वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थों की उपलब्धि करके जीवन को टिकाये रखना ही मानो उनके जीवन का चरम उद्देश्य है। यह बात अलग है कि उनके प्रयास अन्त में धूल में मिल जाते हैं और जीवन का अवश्यंभावी अन्त उन्हें विफलता का ही पुरस्कार प्रदान करता है; मगर जब तक वे जीते हैं, जीवन-रक्षा के स्थूल प्रयासों में ही संलग्न रहते हैं।

जीवन क्या है ?

कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें जीवनयापन के साधन अनायास ही प्राप्त हैं और प्रचुरता से प्राप्त हैं। उन्हें जीवनसाधनों के लिए खास प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु साधनों की प्रचुरता ही उन्हें आत्म-विस्मृत बना देती है। वे भोग-उपभोग की सामग्री में ही खो जाते हैं। विलास के बीहड़ अंधड़ में, आक की रुई के समान उड़ते रहते हैं। विलास की वारुणी उन्हें होश में नहीं आने देती जब देखते हैं, तब बाहर की ओर ही देखते हैं। अपनी ओर नजर करने की फुर्सत ही उन्हें नहीं होती।

उंगलियों पर गिनने योग्य विरले पुरुष ही हैं जिनके हृदय में जीवन संबन्धी जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होता है और जो जीवन के संबंध में गहराई से विचार कर सकते हैं। जिनका वैचारिक स्तर उच्चकोटि का है, वे ही इस सम्बन्ध में विचार करते हैं।

जीवन संबंधी जिज्ञासा का प्रथम रूप है—वस्तुतः यह जीवन क्या है ? इसकी कृतार्थता और धन्यता कहाँ निहित है ? क्या करके हम जीवन का सदुपयोग कर सकते हैं ? अपने आपको पहचानना कितना कठिन और कितना सरल है।

जीवन का सदुपयोग

मानव जाति की महान् और सर्वोत्तम विभूतियाँ सनातन काल से इन प्रश्नों का चिन्तन करती आई हैं। अगर हम उनके चिन्तन से लाभ उठा सकें तो अपने आपको पहचानना कुछ भी कठिन नहीं है। लाभ न उठा सकें तो पहचानना बहुत कठिन है।

जब तक मनुष्य में बहिरात्मबुद्धि विद्यमान है, वह परिवार, घरद्वार, हिरण्य - सुवर्ण आदि अनात्म भूत पदार्थों के उपभोग में ही आनन्दानुभव करता है, तब तक वास्तविक 'आत्मा' उसकी समझ में नहीं आ सकता। और जिसने अपने आपको नहीं समझा, वह अपने जीवन की कृतार्थता को कैसे समझ सकता है ?

तथ्य यह है कि जीवन की सार्थकता किसी वस्तु की प्राप्ति में नहीं, प्राप्त और प्राप्तव्य के परित्याग में ही स्व की संप्राप्ति है। जिसने सम्पूर्ण संकल्प के साथ 'पर' से नाता त्याग दिया, उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा।

आत्मोपलब्धि का साधन

किन्तु त्याग शब्द भी मौजूं नहीं है। वह पूरी तरह प्रस्तुत अर्थ का द्योतक नहीं है। त्याग गृहीत (प्राप्त) का होता है, मगर मनुष्य

की स्वत्व-बुद्धि तो गृहीत और अगृहीत दोनों प्रकार के पदार्थों में होती है। अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ प्राप्त हैं, और जो प्राप्त नहीं है किन्तु जिन्हें प्राप्ति की कामना स्पर्श कर सकती है, उन सब का परित्याग ही आत्मोपलब्धि का साधन है।

त्याग का सही अर्थ

फिर भी एक बात ध्यान में रखने योग्य है। त्याग का मतलब कहीं दूर फेंक देना नहीं। बहुत-सी वस्तुओं को हम उठा कर फेंक सकते हैं, मगर शरीर का क्या किया जा सकता है? उसे कैसे फेंका जा सकता है? ऐसी स्थिति में त्याग का वास्तविक अर्थ है-ममत्व को हटा लेना।

चीज़ जहाँ है वहीं पड़ी रहे, महल अपनी जगह खड़ा रहे. परिवार अपनी जगह बना रहे, किसी वस्तु को इधर से उधर करने की आवश्यकता नहीं और स्वयं को भी कहीं भागने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि शरीर से भागने पर भी मन के साथ उनका सम्बन्ध बना रह सकता है। अतएव सब से बड़ा त्याग स्वत्व की भावना को हटा लेना ही है।[1]

---

[1] श्रमण संस्कृति का सन्त अपरिग्रही होता है, उसका जीवन त्याग और वैराग्य के रंग से रंगा हुआ होता है, पर संयमी जीवन की साधना के लिए, रक्षा के लिए, वह अशन, वसन, भवन, पात्र, आदि वस्तुओं का उपयोग करता है पर आसक्ति से नहीं, अनासक्ति से, दशवैकालिक सूत्र में लिखा है:—

जं पि वत्थं च पायं वा, कम्बलं पाय पुंछणं
तं पि संजम - लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य"

—अध्य० ६—गा०—२०

साधना के अभिलाषी ! तू जानता है कि—मैं बाह्य पदार्थों से दूर भाग कर त्यागी बन जाऊँगा, मगर भाग कर जाएगा कहाँ ? विश्व के किस कोने में बाह्य पदार्थ नहीं है ? सिद्धशिला पर जो, जहाँ सिद्ध आत्मा विराजमान हैं, छहों द्रव्य विद्यमान हैं। अतएव भाग कर त्यागी कहलाने का मनोरथ व्यर्थ है। तू जहाँ है, वहीं रह सकता है, बाह्य पदार्थ भी वहीं रहेंगे, केवल भावना को बदल डालने की आवश्यकता है। स्वत्व भावना की डोरी से तूने उन्हें अपने साथ बाध रक्खा है, उसे काट कर फेंक दे। फिर तू तू है, वे वे हैं। वे तेरा कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकते।

चमड़े के जूते पहन लेने पर सारी पृथ्वी चर्म मण्डित-सी हो जाती है, उसी प्रकार ममत्व त्याग देने पर सभी 'स्व' 'पर' बन जाते हैं।

सर्वविरति का प्राण

निर्ममत्व की यह साधना सर्वविरति का प्राण है। जिस साधक के अन्तः करण से ममत्वभाव पूरी तरह हट गया, समभाव ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया, वह सभी प्रकार के सावद्य व्यापारों से अनायास ही बचा रहता है। वह न किसी को पीड़ा पहुँचा सकता है, न असत्य भाषण का कोई कारण उसके सामने होता है। वह पाप मात्र से पूर्ण रूपेण विरत हो जाता है। यही सर्वविरति कहलाती है।

सर्व विरत साधक सतत जागृत रहता है। उसका समग्र जीवन व्यापार विवेक की कसौटी पर कसा होता है। प्रत्येक क्रिया में 'समिति'[1]

---

[1] विशेष विवरण के लिए देखें— (क) समवायांग ५
(ख) स्थानाङ्ग ५ उद्देशा,
(ग) उत्तराध्ययन अ. २४
धर्म संग्रह अधिकार ! श्लोक ४७

की सुधा धुली रहती है। वह कर्म करता हुआ भी आसक्ति के कल्मष से लिप्त नहीं होता। उसका मन, वचन और तन गुप्त अर्थात् नियंत्रित होता है। अहिंसा आदि पांच महाव्रतों की साधना जीवन में मूर्त रूप ग्रहण कर लेती है।

२ उत्तराध्ययन – अ. २४

स्थानाङ्ग २ उद्देशक १ सू. १२६

धर्म की रीढ़ : अहिंसा

धर्म ने मानवजाति को अनेकानेक दिव्य विभूतियां प्रदान की हैं, किन्तु अहिंसा उन सब में उत्कृष्ट है। अहिंसा ही मानव की आकृति में मानवत्व और देवत्व के प्राणों की प्रतिष्ठा करती है। कभी-कभी ध्यान आता है- मानवमन में यदि अहिंसा की कोमल कमनीय भावना न होती तो इसकी क्या स्थिति होती ? मनुष्य ने परिवार, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किया, मगर इन सब का मूलाधार अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव में परिवार समाज और राष्ट्र का अस्तित्त्व सुरक्षित नहीं रह सकते। मानवी जाति के महान् से महान् मनीषियों के अब तक के विराट् और गंभीरतम चिन्तन का सर्वोत्कृष्ट सार यदि कुछ है तो वह अहिंसा ही है।

स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।[1]

व्यक्ति और समाज के जीवन का प्रधान अवलम्बन अहिंसा है। अहिंसा के प्राण ही उसमें स्पन्दित दिखाई देते हैं। श्वासोच्छ्वावास प्राण

[1] वृहद् स्वयंभू स्तोत्र।

के अभाव में व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता, इसी प्रकार अहिंसा के प्राण के विना भी व्यक्ति और समाज जीवित नहीं रह सकता।

अहिंसा आत्मा का स्वभाव है

पाश्चात्य सभ्यता की गंदगी को, विना विचार और विवेक के, शिरोधार्य करने वाले नासमझ लोग धर्म के विरुद्ध कितना ही विषवमन क्यों न करें, धर्म आत्मा में एक-रस है। वह आत्मा का स्व-भाव है, अतएव आत्मा की तरह ही अमर है, इसकी आदि नहीं, अन्त भी नहीं। इसीलिए अहिंसा भी अमर है। वह प्राणीमात्र में नैसर्गिक है। घोर से घोर हिंसक समझे जाने वाले प्राणी के अन्तरतर में भी अहिंसा के किंचित् सौम्य कण विद्यमान रहते हैं। अगर हम विचार के लोचनों से उसके हृदय के आन्तरिक रूप को देख पाएँ तो वहाँ भी अहिंसा भगवती का परम सुन्दर स्वरूप प्रतिष्ठित मिलेगा।

हिंस्र जन्तुओं पर विचार करते ही हमारा ध्यान सर्वप्रथम सिंह की ओर आकर्षित होता है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार भी हिंस् धातु से 'सिंह' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। वास्तव में सिंह अत्यन्त खूंख्वार जानवर है और उसकी स्मृति ही साधारण मनुष्य के हृदय को प्रकम्पित कर देती है। सामना हो जाने पर तो कहना ही क्या है! बड़े-बड़े शूरवीरों के भी देवता कूच कर जाते हैं और होशहवास गायब हो जाते हैं। मगर क्या कभी सोचा है आपने कि उस घोर हिंस्र प्राणी के कलेजे में भी करुणा की कोमल मूर्ति विद्यमान रहती है, जो अहिंसा का ही एक रूप है। अगर सिंह में अहिंसा की वृत्ति न होती तो सिंहजाति इस धरातल से कभी की समाप्त हो गई होती। सद्यःप्रसूत सिंह शावक की प्राणरक्षा कौन करता है? तब वह अपनी शक्ति के बल पर जीवित नहीं रहता, वरन् सिंह-सिंहनी की अहिंसा–करुणा की

वृत्ति ही उसके प्राणों का संरक्षण और संपोषण करती है। इसीलिए कहता हूँ कि अहिंसा आत्मा का स्वभाव है और जो जिसका स्वभाव है, वह उससे पूरी तरह अलग नहीं हो सकता।

अहिंसा का इतिवृत्त

अहिंसा का इतिवृत्त क्या है? वह कब इस धराधाम पर अवतरित हुई? किस लोकोत्तर महापुरुष के मस्तिष्क में उसने जन्म लिया? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है और न हो सकता है। पुरातन होने ही से कोई वस्तु उपादेय हो और नूतन होने से हेय हो जाय, यह हेयोपादेय की कोई कसौटी नहीं है। अहिंसा अगर इस युग का आविष्कार होती तो भी अपनी विशिष्टता के कारण वह उपादेय ही होती; मगर ऐसा है नहीं। वस्तुतः अहिंसा सनातन सत्य है और किसी भी काल में उसके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि अनादि काल से अहिंसा का एक ही रूप रहा है और युग के चिन्तन का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में अहिंसा का स्वरूप अत्यन्त विराट् है और वह हमारे सहस्रों रोगों की एक मात्र अमोघ औषध है। इसी से अतीत में वह नाना रूपों में मानवजाति के समक्ष प्रस्तुत हुई है और जब समाज में जिस रोग ने अपना सिर उठाया; उसके एक विशिष्ट रूप ने उसका प्रतीकार किया है।

जैन इतिहास के वेत्ता भलीभाँति जानते हैं कि भगवान् अरिष्टनेमि ने, जिनका उल्लेख वेदों में भी मिलता है, किस प्रभावशाली तरीके से हिंसा का प्रतीकार किया था! तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग में जिह्वा-लोलुपता ने अपना आसुरी स्वरूप ग्रहण कर लिया था। वे मांसभक्षी हो गये थे। तब विवाह के ऐन अवसर पर अरिष्टनेमि तोरण से

वापिस लौट गये पशुओं की सहानुभूति में। श्रीकृष्ण ने सौ-सौ बार मनुहार की, परन्तु अरिष्टनेमि के उस सत्याग्रह को वे भंग न कर सके। उनके इस त्याग ने क्षत्रियों के नेत्र खोल दिये।

भगवान् पार्श्वनाथ ने अपनी कुमारावस्था में नाग जैसे विषधर की भी रक्षा के लिए एक महान् गिने जाने वाले तपस्वी से मोर्चा लिया और अहिंसा की सूक्ष्मता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

भगवान् महावीर के युग में हिंसा ने धर्म के नाम पर पुनः सिर उठाया तो भगवान् ने शक्ति के साथ उसका सामना किया और बड़े-बड़े याज्ञिकों को अहिंसा देवी के चरणों में झुकाया। उनके समय में वैचारिक संघर्ष ने उग्र और भीषण रूप धारण किया था। दार्शनिक विद्वान् विद्यामद से मतवाले होकर परस्पर एक दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपना गौरव मानते थे और ऐसा करते हुए सत्य की हत्या करने में संकोच नहीं करते थे। तब त्रिशलानन्दन ने अनेकान्त के रूप में वैचारिक अहिंसा का मधुर शंखनाद किया और जगत् को एक सन्मार्ग प्रदर्शित किया।

भारत का राजशासन विदेशियों ने हथिया लिया और देश गुलाम बन गया तो गांधीजी को अहिंसा की पुरातन विरासत की स्मृति आई। उन्होंने गुलामी की दीनताजनक व्याधि को दूर करने के लिए अहिंसा की रामबाण औषध का प्रयोग किया। उसका एक नया सामूहिक प्रयोग जनता के सामने आया और वह शान के साथ सफल हुआ।

आज विनोबाजी आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में फैली विषमता की बीमारी पर अहिंसा का प्रयोग कर रहे हैं।

अहिंसा और विश्वशान्ति

अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न युगों में, अहिंसा हमारे यहाँ विभिन्न प्रकार की कठिन समस्याओं को सुलझाने का साधन रही है और इसी से उसके नये-नये पहलू जनता के सामने आते रहे हैं। वास्तव में अहिंसा की उपयोगिता अमर्याद और शक्ति अचिन्त्य है।

इस युग में विज्ञान के दानव ने जो भयानक हिंसा के साधन प्रस्तुत किये हैं उन्हें देख कर विश्व के विचारशील नेता चिन्तित हो उठे हैं और अहिंसात्मक उपायों से उनके प्रतीकार का विचार और प्रचार कर रहे हैं। अहिंसा के अतिरिक्त विश्वशान्ति का दूसरा कोई उपाय ही नहीं हो सकता।

अहिंसा और पशु जगत्

इतना सब कुछ होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि शासनक्षेत्र में अहिंसा का व्यापक स्वरूप समझा गया है। ऐसा लगता है कि हमारे देश के राजकर्त्ता अहिंसा को मानवजाति तक ही सीमित रखना चाहते हैं। मगर यह जगत् मनुष्यजाति में ही अशेष नहीं है। बहुत बड़ी दुनिया मानवेतर जीवधारियों की भी है, जिन्हें हमारी तरह वाणी प्राप्त नहीं है और जो अपने विराट् संगठन और यूनियन नहीं बना सकते और चिल्लाहट नहीं मचा सकते। उन दीन हीन प्राणियों के प्रति, जो हमारे ही परिवार के अविकसित और अबोध सदस्य हैं, हमारा क्या कर्त्तव्य है? जब तक हमारी करुणा की विमल धारा उन तक नहीं पहुँचती, तब तक अहिंसा लँगड़ी ही रहेगी और उसमें पूरी क्षमता नहीं आ सकेगी। अगर हम चाहते हैं कि एक देश दूसरे देश के प्रति, एक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति और एक जाति दूसरी जाति के प्रति अहिंसक व्यवहार करे और मनुष्य का अन्तःकरण हिंसा के

दानवी संस्कार से छुटकारा पा ले तो हमें अपने परिवार के उन छोटे सदस्यों के प्रति भी सदय बनना पड़ेगा। जब तक हम मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी दयाशील न होंगे, तब तक हृदय में क्रूरता, कठोरता और हिंसाभावना बनी रहेगी और जब हृदय में निर्दयता और हिंसाभावना विद्यमान होगी तो उसका प्रयोग मनुष्य, मनुष्य के प्रति भी करने से नहीं चूकेगा। अतएव मनुष्येतर प्राणी, प्राणी होने के नाते भी करुणा के पात्र हैं और इसलिये भी कि इस प्रकार की करुणा के अभाव में मनुष्य, मनुष्य के प्रति पूरी तरह करुणाशील नहीं बन सकता।

जिसका एक पंख काट दिया गया हो, ऐसे पक्षी से व्योम में उड़ान भरने की आशा नहीं की जा सकती। एक टांग के बल पर मनुष्य दुरूह पथ पर चल कर अपनी दूरकी मंजिल तक नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार एकांगी अहिंसा भी अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती—मानव के मन में से हिंसा के संस्कारों का समूल उन्मूलन नहीं कर सकती।

अहिंसा एक जीवनव्यवहार्य सिद्धान्त है। वह वाणी विलास नहीं है। तथापि यह आशा नहीं की जा सकती कि प्रत्येक दशा में, प्रत्येक मनुष्य उसका पूर्णरूपेण व्यवहार करेगा। मनुष्य को अहिंसा के पथ पर ही चलना चाहिए और जितना संभव हो, अग्रसर होते जाना चाहिए। किन्तु हमारे चलने की एक सीमा है, अतएव अहिंसा को भी हम सीमित कर लें और उसके आगे की अहिंसा को अहिंसा ही न समझें, यह बुद्धिमत्ता नहीं। शास्त्र कहता है—

जं सक्कइ तं कीरइ,
जं च न सक्कइ तस्स सद्दहणं।

सद्दहमाणो जीवो,
पावइ अयरामरं ठाणं ।
—धर्म संग्रह

मनुष्य अपने कर्त्तव्य का, धर्म का या सिद्धान्त का जितना व्यवहार (आचरण) कर सकता हो, करे। किन्तु जिस अंश का व्यवहार करना उसकी शक्ति से पर हो, उस पर भी श्रद्धा अवश्य रक्खे उसे प्राप्य माने और प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न करे। इस प्रकार श्रद्धाशील पुरुष को एक न एक दिन मुक्ति मिल जाती है।

हिंसा क्या है ?

जीवन में अहिंसा का अमल कितनी सीमा में किया जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव में अहिंसा क्या है और हिंसा क्या है ? साधारणतया किसी भी प्राणी को प्राणों से वियुक्त करना हिंसा समझा जाता है; परन्तु हिंसा की यह व्याख्या परिपूर्ण नहीं है। प्राणों का विनाश होना द्रव्यहिंसा है, मगर द्रव्यहिंसा तभी हिंसा के पाप में परिगणित होती है, जब वह प्रमाद-कषाय से प्रेरित हो। प्रमाद-कषाय ही वास्तविक हिंसा है और जैनागम उसे भावहिंसा कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

यत्खलु कषाय योगात्, प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं, सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।

क्रोध आदि कषायों के योग से किसी भी प्राणी के या अपने निज के प्राणों का व्यपरोपण करना निश्चित रूप से हिंसा है। और—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

जैनागमों में हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में वहुत विस्तृत, विशद और गहन मीमांसा की गई है। किसी अन्य धर्म के शास्त्रों में ऐसी मीमांसा नहीं मिलती इसका कारण यही है कि समग्र जैनाचार का आधार अहिंसा ही है।

कृत्य और अकृत्य की कसौटी

क्या कृत्य है और क्या अकृत्य है, इसकी प्रमुख कसौटी अहिंसा ही है। सत्य भी धर्म है, अस्तेय भी उपादेय है, ब्रह्मचर्य भी आराधनीय है, पर यह सव धर्म अहिंसा धर्म की ही शाखाएँ हैं। कहा भी हैं—

> आत्मपरिणामहिंसन–
> हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
> अनृतवचनादि केवल–
> मुदाहृतं शिष्यबोधाय।

असत्यभाषण, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह–इन सव पापों के आचरण से आत्मा के परिणामों की हिंसा होती है। अतएव भाव-हिंसा के कारण होने से ये सभी पाप हिंसा ही हैं। तथापि स्फुट रूप से समझाने के लिए और जिज्ञासु जन किसी प्रकार के भ्रम में न पड़ जाएँ, इस दृष्टि से असत्यभाषण आदि की पृथक् गणना की गई है।

तात्पर्य यह है कि अहिंसा ही सम्यक् चारित्र और पापाचार का मापक दंड है। समस्त कर्त्तव्यों में अहिंसा ही मूर्धन्य कर्त्तव्य है। अतएव आगमों में उसकी वारीक से वारीक व्याख्या उपलब्ध होना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक व्यक्ति में इतनी योग्यता नहीं हो सकती कि वह अहिंसा विषयक समग्र श्रुत का अध्ययन और मनन कर सकें। ऐसे जिज्ञासुओं के लिए आचार्य अमृतचन्द्र अहिंसाविषयक मन्थन का मक्खन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—जैनागमों में प्रतिपादित हिंसा-

अहिंसा का संक्षिप्त सार यही है कि रागादि कलुषित भावों का प्रादुर्भाव न होना अहिंसा है और कलुषित भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है।

हिंसा और अहिंसा का विश्लेषण

वाचक उमास्वाति ने भी तत्त्वार्थसूत्र में यही कहा है—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'

यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि संयमी पुरुष यदि यतना के साथ, सावधान और सतर्क रहकर, किसी भी जीव के प्राणों का घात न होने देने की बुद्धि से, चार हाथ भूमि देख-देख कर चल रहा है, फिर भी यदि अचानक कोई जीव उड़ कर या अन्य किसी तरीके से उसके पैर से कुचल जाता है तो वह संयमी पुरुष हिंसा के पाप से लिप्त नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि प्रमाद और कषाय से किया जाने वाला प्राणवध हिंसा है। इस हिंसा से बचने का उपाय प्रमाद और कषाय का परित्याग करना है। इस विवेचन से पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान हो जाएगा कि साधक जितने-जितने अंशों में प्रमाद-कषाय से निवृत होता जाता है, उतने ही उतने अंशों में हिंसा से बचता है।

स्थूल (द्रव्य) हिंसा न करने पर भी जिसके अन्तःकरण में हिंसक भावना प्रचुर है, वह प्रचुर हिंसा का भागी होता है। इस सम्बन्ध में तन्दुल मत्स्य का सुन्दर उदाहरण प्रसिद्ध है।

तो अहिंसा का पालन करने के लिए आवश्यक है कि साधक अपने अन्तःकरण को स्वच्छ, पवित्र और अकलुष बनाए। अन्तकरण में क्रोध, मान, कपट, आसक्ति, राग, द्वेष, ईर्षा आदि की कालिमा का

प्रवेश न होने दे। इतना करने पर वह अपना धर्मोपेत जीवन व्यवहार चलाता हुआ भी अहिंसा की साधना कर सकता है।

भ्रान्तधारणाओं का निराकरण

अहिंसा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ सुनने को मिलती हैं। कुछ लोग समझते हैं कि यह पृथ्वी सिर्फ हमारे लिए अर्थात् मनुष्यजाति के लिए ही है। हमारा ही इस पर एकाधिपत्य है। अन्य प्राणियों को इस पर रहने और जीवननिर्वाह करने का अधिकार नहीं। इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर वे वन्य पशुओं का, कुत्तों का, बन्दरों का, हिरणों का और दूसरे जीवों का वध करते हैं, करवाते हैं या किये जाने वाले वध का समर्थन करते हैं। मगर निष्पक्ष विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह विचारधारा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इस पुरानी लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। यह स्वार्थी विचार जंगलीपन का निशान है। इसमें न्याय अथवा औचित्य के लिए कोई अवकाश नहीं है। किसने धरती का पट्टा मनुष्य के लिए लिख दिया है? वास्तव में जो भी जीवधारी इस धरती पर जन्मा है, उसे इस पर रहने का और उससे पोषण प्राप्त करने का अधिकार है। सिर्फ इस कारण कि मनुष्य में, इतर जीवों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य है; वह दूसरों के जन्मजात अधिकारों को नहीं छीन सकता। वह छीनता है तो प्रकृति उसे समुचित दंड दिये विना नहीं रहती।

इस प्रकार की संकीर्ण और स्वार्थमय भावना का दंड मनुष्य जाति को किस प्रकार भुगतना पड़ता है, यह जानने के लिए तपस्या करने की आवश्यकता नहीं। यह भावना बढ़ते-बढ़ते मनुष्य-मनुष्य में भी इसी प्रकार की धारणा उत्पन्न किये विना नहीं रहती। शासक वर्ग समझता है कि पृथ्वी उसकी बपौती है और शासितों को जीवित रहने का अधिकार नहीं। अगर वे जीवित रहें तो हमारी सुख-सुविधा के ही

लिए जीएँ। इस प्रकार की समझ के कारण अतीत में मनुष्य ने मनुष्य के साथ भीषण और लोमहर्षक अत्याचार किये हैं और उन अत्याचारों की आज भी इति नहीं हो पाई है।

दुर्वृत्ति का उद्गम कहाँ से ?

प्रश्न यह है कि आखिर मनुष्य में इस वृत्ति का उद्गम हुआ कहाँ से ? विचार से विदित होता है कि इस दुर्वृत्ति का बीज मनुष्येतर प्राणियों के अधिकारों की अस्वीकृति में ही छिपा है। जब तक मनुष्य, मनुष्येतर प्राणियों के प्रति न्याय नहीं करेगा, मनुष्य के प्रति भी न्याय नहीं कर सकता।

अहिंसा का उपासक इस प्रकार की अनैतिक एवं अधार्मिक वृत्ति को न अपने हृदय में स्थान दे सकता है, न इसका समर्थन ही कर सकता है।

लोग कहते हैं—सिंह, व्याघ्र और सर्प जैसे हिंस्र प्राणियों का वध करना अनुचित नहीं है, क्योंकि उनसे हमें खतरा है। मगर वे प्राणी भी यही कह सकते हैं। उन्हें भी मनुष्य से खतरा है। हिंस्र प्राणियों से मनुष्य को जितना खतरा हो सकता है, उसकी अपेक्षा उन्हें मनुष्य से कहीं बहुत अधिक खतरा होता है। मनुष्य के पास हिंसा के साधन शास्त्र—हैं और वह दूर से भी उन पर प्रहार करता है। दल बना कर भी उनके प्राण लूटता है। बेचारे पशु इस प्रकार के आयोजन नहीं कर सकते।

आत्मवत् सर्वभूतेषु

अहिंसा के सम्बन्ध में इसी प्रकार की अन्यान्य भ्रमणाएँ भी फैली हुई हैं। मगर उन सब से मुक्ति पाने का और सही स्वरूप समझने

का सरल उपाय है—आत्म-साक्षी। ज्ञानियों ने हिंसा-अहिंसा का निर्णय करने के लिए एक अभ्रान्त कसौटी हमें पकड़ा दी है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु।' दूसरों द्वारा किये जाने वाले जिस व्यवहार को तुम अपने लिए उचित नहीं समझते, वह व्यवहार दूसरों के प्रति करना भी अनुचित है। दूसरों के अपने प्रति किये गये जिस-कार्य से तुम्हें पीड़ा पहुँचती है, समझ लो वैसा तुम्हारा कार्य भी दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है। इस प्रकार शुद्ध बुद्धि से, न्यायपूर्ण विचार करने पर, स्वतः हिंसा-अहिंसा का भेद समझ में आ जाता है।

प्राचीन काल में हिंसा के साधन आज की भाँति शक्तिशाली और दूर-दूर तक व्यापक प्रभाव डालने वाले नहीं थे। आज जब ऐसे अगणित साधन निर्मित हो चुके हैं और हिंसा अत्यन्त शक्ति-शाली बन गई है, तब उनका प्रतीकार करने के लिए अहिंसा को भी अत्यधिक समक्ष बनाने की आवश्यकता है। इसी कारण अहिंसा के पक्ष में भी जोरदार आवाज़ उठने लगी है। अहिंसा के भक्तों और अनुयायियों को चाहिए कि अहिंसक वातावरण के निर्माण में पूर्णरूपेण सहयोग दें।
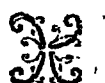
साधना का मूलस्रोत : सत्य

'सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ
मेहावी मारं तरइ ।' —आचारांग.

सम्पूर्ण जैनवाङ्मय चार भागों में विभक्त है, जिसमें चरणानुयोग भी एक है। इस विभाग में जैन साधु और श्रावक के आचार का वर्णन है और यह काफी वृहत् है। किन्तु यदि गहराई से विचार किया जाय तो समग्र आचार का मूल पाँच व्रत ही हैं, उनमें से अहिंसा के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। यहाँ दूसरे व्रत के विषय में, संक्षेप में विचार करना प्रस्तुत है।

आत्मा अनादिनिधन तत्त्व है, क्योंकि वह सत् है। सत् की सत्ता सदैव अक्षुण्य रहती है। सत् पदार्थ कभी नहीं था या कभी न रहेगा, यह नहीं कहा जा सकता। यद्यपि प्रत्येक प्राणी का वर्त्तमान जीवन परिमित है, तथापि इस व्यक्त एवं स्थूल जीवन के साथ आत्मा का अन्त नहीं होता। इस आत्मा ने अनन्त-अनन्त जीवन अतीत काल में ग्रहण किये और त्यागे हैं। जैसे आकाश असीम और अपार है, इसी प्रकार काल भी अनन्त है। अनन्त अतीत काल के चित्रपट पर आत्मा सर्वदा अभिनय करता रहा है और इस अभिनय में इसने असंख्य रूप धारण किये हैं।

जिह्वा का महत्त्व

आपको विदित है कि संसारी जीव षट् निकायों में विभक्त हैं, जिनमें पाँच निकाय स्थावरों-एकेन्द्रियों के और एक निकाय त्रसजीवों का है। इन पांच निकायों में अर्थात् पृथ्वीकाय, जल-काय, तेजस्काय वायुकाय और वनस्पतिकाय में जीव की दशा इतनी अधम होती है कि उसे वाणी की शक्ति भी प्राप्त नहीं होती। एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय ही उन्हें प्राप्त होती है और वही उनके जीवनव्यवहार का साधन होती है।

जीव जब एकेन्द्रिय अवस्था में पहुँचता है तो आवश्यक नहीं कि शीघ्र ही छुटकारा मिल जाए। शास्त्रकार कहते हैं, अनन्त-अनन्त जीव ऐसे भी मिलेंगे जिन्हें अब तक एक बार भी त्रस-अवस्था प्राप्त नहीं हुई है और वे अभागे जीव जिह्वा-इन्द्रिय नहीं प्राप्त कर सके हैं। जो त्रसपर्याय प्राप्त कर लेने के पश्चात् पुनः स्थावरपर्याय में जा पहुँचते हैं, उन्हें भी एक-एक निकाय में पुनःपुनः जन्म-मरण करते-करते असंख्य काल व्यतीत हो जाता है। वनस्पतिकाय में तो अनन्त काल तक व्यतीत हो सकता है।

दलदल में फँसे मनुष्य का उद्धार होना अत्यन्त कठिन है, मगर एकेन्द्रिय-अवस्था में पड़े प्राणी का उद्धार और भी कठिन है। महान् पुण्ययोग से जीव द्वीन्द्रिय-अवस्था प्राप्त कर पाता है और तब उसे वाचाशक्ति प्राप्त होती है। कितना कठिन है जिह्वा-इन्द्रिय को प्राप्त कर लेना।

किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, यहाँ तक कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक की स्थिति में, जिह्वा विद्यमान होने पर भी, व्यक्त वाणी का प्रयोग करने की क्षमता नहीं होती है। संज्ञी पंचेन्द्रियों में भी पशु-पक्षी जैसे तिर्यंच व्यक्त वाणी का प्रयोग नहीं कर सकते।

इस लोक में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो सोच-समझ कर व्यक्त वाणी का उच्चारण कर सकता है।

विस्तार के लिए अवकाश नहीं है, मगर आप गहराई से सोचें तो समझ सकेंगे कि यह जिह्वा और यह व्यक्त वाणी के प्रयोग की क्षमता कितनी दुर्लभ है।

लोग हिरण्य, सुवर्ण और चन्द चान्दी के टुकड़ों को ही सब से बड़ी पूंजी मानते हैं, मगर यह नहीं सोचते कि पुण्य की पूंजी पल्ले में न हो तो पल्ले का धन भी कपूर की तरह उड़ जाता है और पता भी नहीं चलता कि कब और कैसे चला गया! किन्तु जिसने पुण्य की पूंजी को समझा है, वह जानता है कि कितनी बड़ी पूंजी व्यय करने पर जिह्वेन्द्रिय और व्यक्त वाणी प्राप्त हुई।

इस प्रकार जो साधन अत्यन्त दुर्लभ है, बहुमूल्य है और जो तीव्र पुण्य के बदले में मिला है, उसका उपयोग बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिए। जीभ मांस का टुकड़ा मात्र नहीं है; वह हृदयगत भावनाओं को व्यक्त करने का और दूसरों के मनोगत विचारों को अवगत करने का असाधारण और सर्वोत्तम साधन है। शरीर में यह टुकड़ा न होता तो मनुष्य कितना अक्षम और असमर्थ होता! इस तरह जिह्वा के महत्त्व का विचार करना चाहिए और प्रमाद या कषाय के अधीन होकर जिह्वा का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

जिह्वा के दो कार्य :

मुख्य रूप से जिह्वा के दो कार्य हैं रस का अनुभव करना और वाणी का उच्चारण करना। इन्हीं दो कार्यों में उसका दुरुपयोग और सदुपयोग किया जा सकता है। किन्तु सत्य के इस प्रसंग में हमें वाणी सम्बन्धी उपयोग पर ही विचार करना है।

असत्य वचन बोलना जिह्वा का दुरुपयोग है और सत्य वचन का प्रयोग करना सदुपयोग है।

सत्य का विश्लेषण :

वाचक उमास्वाति कहते हैं—'असदभिधानमनृतम्।' जो वचन असत् है अर्थात् अप्रशस्त है और अयथार्थ है, वह असत्य है। जो वस्तु अथवा घटना जैसी है, उसे वैसी ही न कह कर अन्यथा कहना असत्य है। असत्य का यह रूप सर्वसाधारण में प्रचलित है। किन्तु यह भी समझना चाहिए कि यथार्थ होने पर भी जो वचन अप्रशस्त है, किसी के पक्ष में अहितकर है, अनर्थकारी है, जिससे किसी को पीड़ा होती है या हानि पहुँचती है, वह भी असत्य ही है।

अहिंसा के विवेचन में बतलाया जा चुका है कि सत्य अस्तेय आदि वस्तुतः अहिंसा के ही विराट् रूप हैं। अतएव वे अहिंसा से निरपेक्ष नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में जो वचन हिंसा-जनक हैं, वे चाहे यथार्थ—तथ्य भले हों, फिर भी असत्य में ही परिगणित होते हैं। अतएव सत्य की सरल और संक्षिप्त व्याख्या यही है कि जो वचन अहिंसा के पोषक हों या अहिंसा के विरोधी न हों, वे सत्य हैं और जो इससे प्रतिकूल हों, वे असत्य हैं।

सत्य की महिमा

सत्य सर्वमान्य धर्म है। संसार के समस्त धर्मों, पंथों और महापुरुषों ने सत्य की सराहना करके अपनी वाणी को धन्य माना है। जगत् के व्यवहार सत्य के सहारे ही चल रहे हैं। सत्य की प्रशंसा करते हुए एक विद्वान् कहते हैं कि—

> सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
> सत्येन वायवो वान्ति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।

यह समग्र पृथ्वी सत्य पर टिकी है। सत्य के प्रभाव से ही सूर्य तप रहा है। वायु का संचरण सत्य की प्रेरणा का ही फल है। कहाँ तक सत्य की महिमा का बखान किया जाय, सत्य यह है कि सभी कुछ सत्य में ही प्रतिष्ठित है।

सत्य की आराधना से पुरुष प्रतीति का पात्र बनता है। सत्य की जाज्वल्यमान ज्वालाओं में समस्त विपत्तियाँ दग्ध हो जाती हैं। समस्त सम्पत्तियाँ सत्य की सलोनी छाया में निवास करती हैं। सत्य वह वशीकरण मंत्र है, जिसके अद्भुत प्रभाव से मनुष्य मात्र ही नहीं, देवता भी वफादार दास की तरह वशीभूत हो जाते हैं और मनोवांछित कार्य को सम्पन्न करते हैं। जिसका मन, वचन और काय सत्य की सेवा में समर्पित हो जाता है, संसार की कोई भी शक्ति उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकती। वह अथाह जल में से सकुशल बाहर आता है या अथाह जल छिछला बन जाता है। अग्नि उसे जला नहीं सकती। सीता सत्य की सहायता से ही अग्निकुण्ड में से सहीसलामत जीवित निकल सकी थी। सत्यवादी हिंसक और विषैले जीव-जंतुओं के हृदय में भी एक बार ऐसी सात्त्विक भावना उत्पन्न कर देता है कि वे भी उसे क्षति नहीं पहुँचा सकते।

सत्य में समस्त मंगलों का निवास है। सत्य के आधार पर ही सौजन्य का टिकाव होता है। सैंकड़ों दूसरे गुण होने पर भी जिसमें सत्यभाषण का सद्गुण नहीं होता, उसे लोग घृणा और हिकारत की नज़र से देखते हैं और उसकी साधारण बात पर भी विश्वास नहीं करते। सत्यवादी के सुयश का सौरभ अनायास ही दिगदिगंत में व्याप्त हो जाता है। उसका प्रभाव अप्रतिहत होता है और सत्य की पावनी शक्ति से समग्र जीवन पवित्र बन जाता है।

घोर से घोर पापी भी पाप का आचरण करके उसे छिपाने का प्रयास करता है और उसे छिपाने का प्रधान साधन असत्यभाषण होता

है। वस्तुतः असत्यभाषण पापों का प्रच्छादन है। अगर यह प्रच्छादन हट जाता है तो मनुष्य पापाचार से डरता है। अतएव सत्य में पापों से बचाने की अपूर्व क्षमता है। इसके विपरीत, असत्यभाषी क्रमशः पापों के गड्ढे में नीचे ही नीचे गिरता जाता है। एक बार के असत्याचरण पर पर्दा डालने के लिए उसे अनेक असत्यों का सेवन करना पड़ता है और वह असत्य के जाल में ऐसी बुरी तरह फँस जाता है कि निकलना कठिन होता है।

जैनशास्त्र सत्य की असीम महिमा प्रकट करते हुए उसे भगवान् का पद प्रदान करते हैं।

इस प्रकार सत्य के महत्त्व को हृदयंगम करते हुए जो मनुष्य सत्य को सर्वोपरि मान कर अपने जीवन में स्थान देता है, वही वास्तव में धर्मनिष्ठ होता है। मगर सत्य का आचरण करने के भी कुछ नियम हैं, जिसमें से कुछ का उल्लेख यों किया गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
नासत्यं नाप्रियं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः।

सत्य शिवं सुन्दरम्

मनुष्य को सत्य भाषण करना चाहिए, मगर वह सत्य प्रिय भी होना चाहिए, अप्रिय नहीं। सत्यता के साथ प्रियता का समन्वय अवश्य होना चाहिए; क्योंकि जो वचन अप्रिय है वह सत्य होने पर भी बोलने योग्य नहीं है। अंधे को अंधा कहना सत्य है, किन्तु अप्रिय-व्यथाजनक होने के कारण वह असत्य की ही कोटि में समाविष्ट है।

मगर जो अपने आप में असत्य है, वह प्रिय होने पर भी भाषणीय नहीं है। तात्पर्य यह है कि जहाँ सत्यता और प्रियता का समन्वय न हो सकता हो, वहाँ मौन धारण करना ही योग्य है।

जीवन में कभी ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है, जब सत्यता और प्रियता का समन्वय असाध्य हो और मौन रहना भी अनर्थजनक प्रतीत होता हो। ऐसी परिस्थिति में क्या कर्त्तव्य है? मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी निर्मल चित्तवृत्ति से, शुद्ध बुद्धि से, अहिंसा भगवती को समक्ष रख कर, विवेकपूर्वक निर्णय करे और जो कुछ करने से अहिंसा का संरक्षण होता हो; वही करे। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सत्य, अहिंसा का ही अंग है; अतएव जिस वाणी से अहिंसा का विरोध होगा, वह सत्य नहीं होगा।

सत्यमेव जयते

साधक को पल भर भी भूलना नहीं चाहिए कि असत्य का परिणाम इह-परभव में अतीव भीषण होता है। ज्ञानी कहते हैं—

> मूकता मतिवैकल्यं, मूर्खता बोधविच्युतिः।
> बाधिर्यं मुखरोगित्व - मसत्यादेव देहिनाम्।

मनुष्यजन्म पाकर भी कितनेक गूंगे होते हैं, कोई बुद्धिविहीन होते हैं, कोई मूर्ख होते हैं, कोई विस्मरण शील होते हैं, कोई बधिर होते हैं, किसी-किसी के मुख में रोग होते हैं; यह सब असत्यभाषण के ही परिणाम हैं। अतएव इन दुष्फलों से बचने के लिए असत्य से बचना चाहिए। कदाचित् असत्यभाषण से कोई तात्कालिक लाभ दृष्टिगोचर होता हो तो भी उस प्रलोभन को जीतना चाहिए और समझना चाहिए कि अन्ततः असत्य का विपाक कटुक ही होता है। जैसे गरल का सेवन कभी हितकर नहीं हो सकता, उसी प्रकार असत्य के सेवन से भी हित नहीं हो सकता। 'सत्यमेव जयते, नानृतम्।' अन्तिम विजय सत्य की ही होगी, असत्य की नहीं।

अस्तेय का विराट रूप

लोभाविले आययइ अदत्तं ।

— चोरी वही करता है जो लोभी है ।

पूर्वोक्त पांच व्रतों में तीसरा व्रत अस्तेय है । अस्तेय को अदत्तादान विरति और अचौर्य भी कहते हैं । अस्तेय का सामान्य अर्थ है— चौर्यकर्म न करना अथवा जिस वस्तु का जो स्वामी है, उसकी आज्ञा के विना उस वस्तु को ग्रहण न करना—न अपनाना ।

अस्तेय की आवश्यकता

अहिंसा और सत्य व्रतों की रक्षा के लिए इस व्रत की अनिवार्य आवश्यकता है; क्योंकि चोरी करने वाला हिंसक और असत्यभाषी होता है । जो व्यक्ति किसी के द्रव्य का अपहरण करता है, वह निःसन्देह उसे व्यथा पहुँचाता ही है । इस व्यावहारिक तथ्य को आप सहज ही समझ सकते हैं ।

मनुष्य अपनी धन-दौलत को प्राणों के समान प्रिय समझते हैं । जान की जोखिम उठाकर धनार्जन करते हैं और उसका संरक्षण भी करते हैं । ऐसी स्थिति में बल से, छल से या किसी अन्य प्रयोग से यदि धन अपहृत कर लिया जाय तो धनवान् के चित्त में दारुण व्यथा उत्पन्न होती है—

चित्तमेव मतं सूत्रे, प्राणा बाह्याः शरीरिणाम् ।
तस्मापहारमात्रेण, स्युस्ते प्रागेव घातिताः ।

वित्त मनुष्य का बाह्य प्राण है और जो उसका अपहरण करता है, वह मानो उसके प्राणों का घात करता है।

इस प्रकार चोरी में हिंसा का दोष स्पष्ट है। चोर असत्यभाषण से भी नहीं बच सकता। कौन व्यक्ति ऐसा है जो चोरी करके कह सके कि– 'मैंने तेरी वस्तु चुराई है।' और जो इतना प्रामाणिक होगा, जिसमें ऐसा साहस होगा, वह चौर्यवृत्ति अंगीकार ही नहीं करेगा। अतएव हिंसा और असत्य की जननी चोरी सत्पुरुषों के लिए एकान्ततः त्याज्य है। इसी अभिप्राय से अहिंसा और सत्य के पश्चात् इसे तीसरा स्थान दिया गया है।

अस्तेय व्रत का दायरा उसके सामान्य अर्थ तक सीमित नहीं है। विचार करने और शास्त्रों का गंभीर भाव से अध्ययन करने पर विदित होगा कि उसमें भी विशाल आशय निहित है और चौर्य की जो अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं, उन सब का परित्याग करना अस्तेयव्रत के अन्तर्गत है। शास्त्रकार कहते हैं—

> पतितं विस्मृतं नष्टं, स्थितं स्थापितमाहितम्।
> अदत्तं नाददीत स्वं, परकीयं क्वचित्सुधीः॥
>
> — योगशास्त्र.

प्रशस्तबुद्धि पुरुष परकीय द्रव्य को, चाहे वह रास्ते में गिर गया हो, कहीं रखने के पश्चात् विस्मृत हो गया हो, गुम गया हो, घर में रक्खा हो, धरोहर के रूप में रक्खा गया हो अथवा गाड़ कर छिपाया हो, अदत्त ग्रहण नहीं करता।

प्रामाणिकता की पुकार

आज बहुत से लोग ऐसे हैं, जो राह चलते गिरी हुई किसी की बहुमूल्य वस्तु को निस्संकोच उठा लेते हैं और उसे चोरी नहीं समझते।

किन्तु ऐसा करना अधर्म ही नहीं, अनैतिकता भी है। प्रामाणिक पुरुष कदापि ऐसा व्यवहार नहीं करते। उन्हें इस प्रकार किसी की कोई वस्तु मिल जाती है तो वे उसके वास्तविक स्वामी की खोज करते हैं और उसके समीप पहुँचा देने का प्रयत्न करते हैं। पश्चिम के देशों में इस प्रकार की प्रामाणिकता प्रचुरता के साथ सुनी जाती है, मगर खेद है कि इस देश में, जो धर्मभूमि माना जाता है, अधिकांश जन इस प्रामाणिकता से भी हीन हैं।

चोरी महान् पाप है

धरोहर को हड़प जाने की घोर विश्वासघातपूर्ण घटनाएँ किसने नहीं सुनी होंगी? कोई वृद्धा या विधवा अथवा असमर्थ पुरुष अपने प्राणों के समान प्रिय पूंजी का जब स्वयं संरक्षण नहीं कर सकता तो दूसरे को प्रामाणिक समझ कर उसकी रक्षा का भार सौंपता है। मगर जब रक्षक ही उसका भक्षक बन जाता है और उस धरोहर को हड़प जाता है तो उस गरीब को कितनी मार्मिक पीड़ा होती होगी, यह कल्पना का विषय है। धरोहर को हड़पना जीवन के आधार को निर्दयतापूर्वक नष्ट कर देना है। प्राणों का अपहरण करना भी कदाचित् इतना पीड़ाप्रद नहीं। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने यथार्थ ही कहा है—

> एकस्यैकक्षणं दुःखं, मार्यमाणस्य जायते।
> सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने॥

किसी मनुष्य का वध किया जाता है तो उसे थोड़ी-सी देर के लिए व्यथा का अनुभव होता है और उसके सिवाय दूसरे को उस व्यथा का अनुभव नहीं होता; किन्तु जब किसी के जीवनाधारभूत धन का अपहरण किया जाता है तब उसे थोड़ी-सी देर के लिए नहीं, वरन् जीवन पर्यन्त के लिए घोर दुःख होता है। धनापहार की वह व्यथा उसके

कलेजे में सदैव कांटे की तरह सालती रहती है और न केवल उसी को, किन्तु उसके पुत्रों और पौत्रों को भी उस व्यथा का भागी बनना पड़ता है। इस दृष्टि से देखने पर चोरी का पाप कभी-कभी प्राणवध रूप हिंसा को भी मात कर देता है।

मानवता का भीषण कलंक

वास्तव में अदत्तादान धार्मिक, नैतिक और सामाजिक दृष्टि से अतीव गर्हित और अधम कृत्य है। चोरी द्वारा अर्थ का ग्रहण करना वस्तुतः अनर्थ को गले लगाना है, क्योंकि अदत्त अर्थ इस जन्म में और आगामी जन्म मे भी अनेकानेक अनर्थों का कारण बनता है। चोरी के फलस्वरूप मनुष्य को दुर्भाग्य का भाजन बनना पड़ता है। दूसरों का किंकर-चाकर-दास बन कर अपनी जिन्दगी बेच देनी पड़ती है।

'पाप छिपाये ना छिपे' इस उक्ति के अनुसार हजार प्रयत्न करने पर भी आखिर चोर को जनता पहचान ही लेती है और उसे नफरत की निगाह से देखती है। उसे कहीं सन्मान नहीं मिलता, प्रत्युत अपमान एवं तिरस्कार के विषैले घूंट पीने पड़ते हैं।

परकीय धन को, चोरी करके अपने अधिकार में कर लेने वाला चोर क्या सुखी बन जाता है ? सुख की अनुभूति भीति और व्याकुलता की स्थिति में नहीं हो सकती और चोर के अन्तःकरण में सतत भीति बनी रहती है। उसका दिल सदैव व्याकुल रहता है। अतएव वह सुख तो पा नहीं सकता, दुःखों के बोझ से दबा रहता है।

खेद की बात है कि चोरी की व्यापक एवं स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध होने पर भी और उसके दुष्परिणामों से परिचित होकर भी आज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में यह पाप व्याप रहा है या तो उसे लोग घोर पाप नहीं मानते या पाप मान करके भी उससे बचने का प्रयत्न नहीं करते।

शासकीय क्षेत्र में

शासकीय क्षेत्र में चोरी की बीमारी दिनों दिन बढ़ती जा रही है। इस क्षेत्र में उसको 'रिश्वत' या 'घूंस' की संज्ञा प्रदान की गई है। जनता में इस चोरी की आम चर्चा है और समाचार पत्र इसके विरोध में अपना स्वर ऊँचा कर रहे हैं; मगर जान पड़ता है असर किंचित् भी नहीं हो रहा है। जनता के राज्य (प्रजातंत्र) के कर्मचारी निर्लज्जता के साथ रिश्वत लेते हैं और रिश्वतखोरी की कटुक आलोचना करने वाले भी अवसर आने पर स्वयं रिश्वत दे देते हैं। स्वार्थान्ध होकर जो इस राष्ट्रीय और सामाजिक पाप में सहयोगी होते हैं, वे देश और समाज के शत्रु हैं। यदि प्रजाजन अपने क्षुद्र वैयक्तिक लाभ को सर्वोपरि न मान कर देश में फैली इस अनैतिकता का डट कर सामना करें तो घूंस लेने वालों की बुद्धि ठिकाने आ जाए। मगर उनमें कदाचित् इतना साहस नहीं, धैर्य नहीं और नैतिकता के प्रति उच्चकोटि का सम्मान भाव भी नहीं है। इसी कारण यह दुतरफा दुश्चक्र अप्रतिहत गति से चल रहा है। मगर जो देश संसार में नीति और धर्म की दृष्टि से, सभ्यता, ज्ञान और अध्यात्म के लिहाज़ से सर्वोपरि कहलाता है, उस देश के प्रजाजीवन की यह दुर्बलता निस्सन्देह संतापजनक है।

व्यापारिक क्षेत्र में

जब व्यापारिक क्षेत्र पर दृष्टि डालते हैं तब भी निराशा की सीमा नहीं रहती। पुरातन काल के व्यापारीवर्ग के साथ आज के व्यापारीवर्ग की तुलना करने पर धरती-आकाश का सा अन्तर दिखाई देता है। कैसी हीन मनोदशा बन गई है आज के व्यापारी की! मिलावट के कारण लोगों को शुद्ध वस्तु मिलना कठिन हो गया है। मिलावट करना स्पष्ट चोरी है। अपने लिए अधिक तोल लेना और दूसरों को कम

तोल देना भी चोरी है। बढ़िया वस्तु दिखला कर घटिया दे देना भी चोरी है। और हिसाब में गड़बड़ी करके अधिक ले लेना भी चोरी है। काला बाजार करना भी चोरी है। शासन का उचित देय न देना अर्थात् कर ईमानदारी से न चुकाना भी चोरी है। निषिद्ध वस्तुओं को शासन द्वारा निर्धारित सीमा से बाहर ले जाना या बाहर से लाना भी चोरी है। चोरी का माल खरीदना भी चोरी है। और आज इन सब चोरियों का बाजार गर्म है! व्यापारी की प्रतिष्ठा समाप्त हो रही है और पारस्परिक अविश्वास बढ़ता जा रहा है।

साहित्यिक क्षेत्र में

साहित्य समाज का मस्तिष्क है और साहित्य-निर्माताओं से यह अपेक्षा रक्खी जाती है कि उनके आचार में उच्चता, पवित्रता और संयमन हो, जिससे उनके विचार भी दिव्य, भव्य और प्रभावशाली हो सकें। मगर यह क्षेत्र भी चोरी के पाप से अछूता नहीं बचा है।

कोई लेखक जब दूसरों की कृतियों के अंशों को इधर-उधर से लेकर इकठ्ठा कर लेता है और अपने नाम से उन्हें प्रसिद्ध करता है, तब वह साहित्यिक चोरी के पाप का भागी होता है। पूरी की पूरी परकीय रचना को अपनी रचना के रूप में प्रसिद्ध करना तो चोरी है ही।

जब कोई लेखक किसी विषय पर ग्रन्थ अथवा निबन्ध आदि लिखने का संकल्प करे तो उचित है कि वह तद्विषयक साहित्य का अध्ययन कर ले। नवीन साहित्यकारों के लिए तो ऐसा करना अत्यावश्यक है। परन्तु ऐसा करते समय प्रामाणिकता रक्खी जानी चाहिए। रचना का जो अंश जिस लेखक का ग्रहण किया है, उसका निर्देश करना चाहिए। इसमें प्रतिष्ठाभंग की आशंका नहीं करनी चाहिए,

क्योंकि प्रत्येक विचारक अपने पूर्ववर्त्ती विचारकों से लाभ उठाता है। मगर उनकी वस्तु को ही अपनी बना लेना अपराध है और यह चोरी में सम्मिलित है।

साधक का कर्तव्य

धार्मिक एवं नैतिक नियमों का दृढ़ता के साथ अनुसरण करके ही जीवन को साधनामय बनाया जा सकता है। अतएव साधक के लिए अनिवार्य है कि वह सभी प्रकार की चोरी के पाप से बचे। शास्त्र तो यहाँ तक सावधान रहने की सूचना करते हैं कि अगर कोई तपस्वी बहुश्रुत अथवा उत्कृष्टाचार सम्पन्न नहीं है और दूसरा कोई उसे इस रूप में कहता है तो साधक को निःसकोच उसका विरोध करना चाहिए और कहना चाहिए कि मैं तपस्वी नहीं हूँ, बहुश्रुत नहीं हूँ, उत्कृष्टाचारी नहीं हूँ। ऐसा न करके मौन रह जाना और मिलती हुई सस्ती प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेना भी चोरी के अन्तर्गत है। इस प्रकार सूक्ष्म चोरी से बचने की सतर्कता रखने वाला साधक ही अपने जीवन को पवित्र और उच्च बना सकता है और अपने उदाहरण से अनेकों के जीवन को राह दिखा सकता है।

●●●

ब्रह्मचर्य की शक्ति

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं ।

—सूत्र कृतांग

आर्यावर्त के महान् मनीषी महर्षियों ने आत्मतत्त्व की गवेषणा करके उसकी शुद्धि के लिए विविध प्रकार के साधना मार्ग प्ररूपित किये हैं । उनमें तपश्चरण एक प्रधान मार्ग है । जैनागमों में तपश्चरण का जो विस्तृत वर्णन है, उसे देखते हुए और तपश्चरण का जो व्यापक आन्तरिक और वाह्य स्वरूप दिखलाया गया है, उस पर दृष्टि रखते हुए निस्सन्देह कहा जा सकता है कि साधक का जीवन जब तक तपोमय नहीं बनता तब तक आत्म शुद्धि का संकल्प कितना ही सबल हो, सफल नहीं हो सकता ।

आत्मशुद्धि और तप

जैसे सोड़ा-साबुन से वस्त्र निखर जाता है, उसी प्रकार तपस्या से आत्मा का समग्र मैल धुल जाता है और निशुद्ध एवं स्वाभाविक स्वरूप चमक उठता है । आग में पड़कर स्वर्ण निर्मल हो जाता है और तपस्या की अग्नि में आत्मा का समग्र मल भस्म हो जाता है और आत्मा अपने सहज स्वरूप में देदीप्यमान हो उठता है । अतीत में जो भी साधक महान् बने हैं, तपस्या की बदौलत ही ! तपश्चरण

के लोकोत्तर प्रभाव ने ही उन्हें महत्ता और उच्चता प्रदान की है, वे स्मरणीय, वन्दनीय और आदरणीय बने हैं। वस्तुतः इस जगत में कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण संकल्प नहीं, जो तपस्या से साध्य न हो –

यद् दूरं यद् दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्।

जो वस्तु बहुत दूर को जान पड़ती है, जिसकी आराधना करना बहुत कठिन है, जो इतनी ऊँचाई पर है कि हमारे बल-बूते की नहीं मालूम होती, वह तपश्चरण के द्वारा सहज ही साध्य बन जाती है। संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि तपस्या के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। तपः प्रभाव को कुंठित और अकिंचित्कार करने की शक्ति किसी में नहीं है। तपस्या का प्रभाव अप्रतिहत और अप्रतिरुद्ध है तपस्या प्रबल से प्रबल विघ्नों को चुटकियों में नष्ट कर देती है। देवों-दानवों को भी आज्ञाकारी दास बना लेती है मन और इन्द्रियों की उच्छृंखलता को दूर कर उन्हें नियंत्रित करती है और दुर्वासनाओं की जड़ें उखाड़ फेंकती है।

तप का मूलाधार

किन्तु तपस्या का मूलाधार-प्राण ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य तपश्चरण में जीवन का संचार करता है। ब्रह्मचर्य विहीन कठिन से कठिन तपश्चर्या भी निर्जीव और निष्फल है। ब्रह्मचर्य की महत्ता से ही तपस्या महान् बनी है। इसी कारण सूत्र कृतांग सूत्र में शास्त्रकार महर्षि कहते हैं–'ब्रह्मचर्य सब तपों में उत्तम है।'[1]

सर्वविदित है कि सबल तन में ही सबल मन का निवास संभव है। मगर तन की सबलता का अर्थ उसकी स्थूलता या निरंकुशता नहीं, वरन् सवीर्यता है। वीर्य प्राण शक्ति है और उसके कारण ही

[1] तवेसु उत्तम बंभचेरं सू. १।६।२३

शरीर प्राणवान्-सबल बनता है अतएव वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्य की पहली भूमिका या शर्त है। यथार्थ ही कहा है—

मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्।

प्राचीन परम्परा

प्राचीन काल की भारतीय समाज व्यवस्था में जीवन चार विभागों में विभक्त किया गया था और प्रथम विभाग में अर्थात् जीवन के प्राथमिक चतुर्थ भाग में बालक ब्रह्मचर्याश्रम में निवास किया करते थे। परिवार और समाज के विलास-मय वातावरण से दूर, शान्त एकान्त तपोवन में रह कर विविध कलाओं और विद्याओं का अध्ययन करते थे और ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए अपने जीवन का सुनिर्माण करते थे। किन्तु काल ने उस प्रणाली को निगल लिया और उसके फलस्वरूप आज समाज की दयनीय दशा हो रही है।[१] आज कहाँ दृष्टिगोचर होती है वह तेजस्विता! कहाँ है वह ओजस्विता! गुलाब के फूल से खिले हुए चेहरे आज कितने देखने को मिलते हैं! जिस ओर दृष्टि डालते हैं, धँसी हुई आंखें, पिचके हुए गाल, फीका चेहरा, निस्तेज शरीर और मुर्दारपन ही प्रायः देखने को मिलता है! उठते हुए जीवन में जहाँ ऐसी स्थिति हो, आगे चल कर वहां क्या आशा की जा सकती है? अंगड़ाइयां लेते यौवन के बदले गठरी की तरह लदा हुआ बुढ़ापा आज जवानों में दिखाई देता है।

---

[१] टिप्पणी— जैन संस्कृति ने आश्रम व्यवस्था को मान्य नहीं किया है और न आत्म-आराधना के लिए किसी विशिष्ट अवस्था का बन्धन ही स्वीकृत किया है। साधक का अन्तर्मानस जब जागृत होता है तब ही वह साधना के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग पर अपने मुस्तैदी कदम बढ़ा सकता है।

सच्चाई छिप नहीं सकती

इस कमी को पूरा करने के लिए पाउडर, क्रीम आदि प्रसाधन सामग्री का उपयोग किया जाता है, किन्तु वह सामग्री दूसरे दर्शक को धोखा नहीं दे सकती। धोखा देने का यत्न करने वाला स्वयं धोखा खाता है, आत्मवंचना करता है और मिथ्या आश्वासन प्राप्त करना चाहता है। बहुमूल्य से बहुमूल्य आभूषण भी मुर्दे में प्राणों का संचार नहीं कर सकते। निस्तेज शरीर को कितना ही चमकाने का प्रयत्न करो, उसमें नैसर्गिक दीप्ति का सहस्रवां भाग भी नहीं आ सकता। कदाचित् आ भी गया तो उससे क्या जीवनी शक्ति की वृद्धि हो सकेगी? कदापि नहीं।

आवश्यकता इस बात की है कि जीवन-निर्माण काल में, अर्थात् कम से कम आयु के प्राथमिक चतुर्थांश में मनुष्य सब प्रकार के विलासमय संपर्कों से पृथक् रह कर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे। तत्पश्चात् यदि ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन शक्य न हो और विवाहित जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ करे तो भी सद्गृहस्थ की धार्मिक मर्यादाओं का अवश्य पालन करे। इन मर्यादाओं में दो मुख्य हैं—

पहली बात यह है कि—विधिवत् परिणीत पत्नी के अतिरिक्त अन्य समस्त रमणियों के प्रति माता-बहिन की भावना स्थापित करे। दुर्भावना के वश होकर उनके प्रति किसी प्रकार की कुचेष्टा न करे, उन पर कुदृष्टि न डाले।

दूसरी बात यह है कि—स्वस्त्री के प्रति भी अत्यासक्ति से बचे। इसका आशय यह नहीं कि पत्नी के प्रति प्रीति में कमी करे। प्रीति और आसक्ति के अन्तर को समझना चाहिए। आसक्ति में वासना का विष मिश्रित होता है, प्रीति में निर्मल प्रेम की ही विमल धारा प्रवाहित होती है।

अत्यासक्ति का अर्थ है—पर्व आदि तिथियों में ब्रह्मचर्य का पालन न करना, तथा अमर्यादित रूप से भ्रष्ट होकर और वीर्य का विनाश करके शरीर को खोखला कर डालना।

इन दो मर्यादाओं का पालन करने के लिए जो नियम आवश्यक हैं, उनका भी ध्यान रखना चाहिए।

सिनेमा और ब्रह्मचर्य

इस युग में सिनेमा का जो नया संसार सर्जित हुआ है, वह इस चीज का ज्वलन्त उदाहरण है कि मनुष्य अपने स्वार्थ मे अन्धा होकर किसी प्रकार मंगल को भी अमंगल के रूप में परिणत कर सकता है। चित्रपटों द्वारा जनता को और विद्यार्थियों को जीवन निर्माण की सुशिक्षा दी जा सकती है, मगर आज किस प्रकार जहर के इंजेक्शन दिये जा रहे हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। आज के 'सिनेमा हाउस' वह अग्निकुण्ड बने हुए हैं जिनसे यमराज की विकराल जिह्वा के समान लपलपाती हुई प्रचण्ड अग्निज्वालाएं घर-घर में फैल कर संयम और सदाचार को समूल भस्म कर रही हैं। चित्रपटों के अश्लील वासनावर्धक दृश्य सुकुमारमति बालक-बालिकाओं और नव-युवक-नव युवतियों के चित्रपट पर अंकित हो जाते हैं और गन्दे गीत उनके कण्ठ के आभरण बन रहे हैं। गलियों में छोटे-छोटे बालकों के मुख से जब प्रेम-गीत सुनाई देते हैं तो विचार आता है—भारत वर्ष की संयममयी संस्कृति को न जाने किस पाताल में भेज देने का यह षड्यन्त्र रचा गया है! चित्रपट क्या हैं, मानों पश्चिम के स्वच्छंदाचार को भारतीय जीवन का अंग बनाने की कोई सुनियोजित योजना है। संयम और सभ्यता को विनष्ट करने की दुरभिसन्धि है! पता नहीं, सरकार का सेंसर-बोर्ड सोया पड़ा रहता है या इसमें कोई गहरा रहस्य है!

कुछ भी हो अपने चित्त को निर्मल और निर्विकार रखने के अभिलाषी विवेक वान् पुरुषों और बहिनों को ऐसे चित्रपट देखने से बचना चाहिए और उन्हें ब्रह्मचर्य की साधना में बाधक समझकर अपनी सन्तति को भी बचाना चाहिये।

अन्यत्र भी जहाँ कामवर्धक गीत गाये जाते हों, इस प्रकार का वार्त्तालाप होता हो अथवा जहाँ जाने से ब्रह्मचर्य-साधना में विघ्न उपस्थित होता हो, वहाँ नहीं जाना चाहिए और पूर्ण ब्रह्मचर्य की पालना को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहिए।

जीवन समृद्धि का मूल मन्त्र

स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्मचर्य जीवन समृद्धि का प्रधान आधार है। ब्रह्मचर्य परमधर्म, परमशौच, परमतप और परमजप है। ब्रह्मचर्य के सद्भाव में ही सब साधनाएँ सफल होती हैं और ब्रह्मचर्य के अभाव में अन्य सब साधनाएँ निष्फल हैं। ब्रह्मचर्य वह पोतवाहन है जिसके सहारे यह विशाल संसारसागर पार किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य नीरोग, कान्तिमान्, दीर्घजीवी, यशस्वी, ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी बनता है। जैसे हाथी के पैर में सभी पैरों का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना में सभी साधनाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। ब्रह्मचर्य की साधना का पारलौकिक फल तो महान् होता ही है, इस जन्म में भी उससे अपरिमित फलों की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचारी का यश इतना उज्ज्वल होता है कि अतीत का अन्धकार भी उस पर पर्दा नहीं डाल सकता। सीता और सुदर्शन जैसे गृहि-ब्रह्मचारियों की भी कीर्त्ति आज तक अक्षुण्ण है। पितामह भीष्म का नामस्मरण भी मानव के मन में एक स्पृहणीय भावना जागृत कर देता है।

इन्द्रिय संयम

पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना मानव जीवन की चरम साधना है; क्योंकि उसमे सहज शुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति होती है और आत्मा सदा के लिए कृत कृत्य हो जाता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप में चर्या अर्थात् रमण करना। पर पदार्थों से पराङ्मुख होकर अपने ही स्वरूप में लीन होना पूर्ण ब्रह्मचर्य है और यही मुक्ति का साक्षात् कारण है। साधारणतया मैथुन त्याग ही ब्रह्मचर्य माना जाता है परन्तु ब्रह्मचर्य के सूक्ष्म और विशद स्वरूप पर विचार करने से विदित होता है कि समस्त इन्द्रियों की एवं मन की बहिर्मुख प्रवृत्ति का परित्याग करने से ही इस महान् व्रत में पूर्णता आती है। अन्य इन्द्रियों के संयम के बिना स्पर्शेन्द्रिय का पूर्ण संयम सम्भव नहीं है। इसलिए शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्यव्रत की नौ वाड़ों का वर्णन करते हुए जिह्वा और चक्षु आदि इन्द्रियों के संयम की आवश्यकता प्रतिपादित की है। ब्रह्मचर्य के साधक को उन्मादजनक, गरिष्ठ, कामवर्द्धक और अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिये। नेत्रों से रागजनक रूप नहीं देखने चाहिये और अन्य इन्द्रियों को भी सदा नियन्त्रित रखना चाहिये।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला समस्त लौकिक कल्याणों के साथ परम लोकोत्तर कल्याण का भी भागी होता है।

साधना का सौन्दर्य : अपरिग्रह

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवड्ढइ।

—उत्तराध्ययन

अपरिग्रह अन्तिम व्रत है। अन्यान्य व्रतों के समान अधिकारी भेद से इसके भी दो रूप हैं—पूर्ण अपरिग्रह और देशतः अपरिग्रह, जिसे परिग्रहपरिणाम भी कहते हैं।

परिग्रह क्या ?

पर-पदार्थों में ममत्वबुद्धि स्थापित करना और उन्हें अपना मान कर संग्रह करना, परिग्रह है। इस प्रकार पर-पदार्थों का संचय भी परिग्रह है और संचय न होने पर भी उनके प्रति आसक्ति, ममता, तृष्णा या गृद्धि रखना भी परिग्रह है।

दुःख का मूल

संसार के समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी होते हुए भी सुखप्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हुए भी सुखी नहीं हैं। जिधर देखते हैं, दुःख ही दुःख दृष्टिगोचर होता है। तो देखना चाहिए कि आखिर दुःख का मूल कहां है ? विचार करने पर विदित होगा कि दुःख का मूल परिग्रह में ही है।

हम भलिभांति जानते हैं कि जीव जब पूर्वभव का परित्याग करके नवीन जन्म ग्रहण करने आता है तो पूर्वभव के वैभव में से एक कण भी साथ नहीं लाता और जब वर्त्तमान जीवन का त्याग करके उत्तर भव ग्रहण करने के लिये जाता है, तब भी खाली हाथ जाता है। जिन्दगी भर आकुल-व्याकुल रह कर और तरह-तरह के पापों का सेवन करके वैभव का महल खड़ा किया, वह यहीं रह जाता है और छटपटाता हुआ उसका गर्वीला स्वामी अकेला ही जाता है। महल, मकान, दुकान, सोना, चांदी आदि की बात तो दूर रही, उसका अपना शरीर भी साथ नहीं जाता। वह जा नहीं सकता, क्योंकि वस्तुतः उसका नहीं है। वास्तव में जो जिसकी सम्पदा है, वह उससे कभी पृथक् नहीं हो सकती और जो वास्तव में जिसका नहीं है, वह सदा उसके साथ नहीं रह सकता। इस कसौटी पर कसने से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान-दर्शन आदि निज गुणों के अतिरिक्त कोई भी भौतिक पदार्थ आत्मा का नहीं है। जैनाचार्य भावपूर्ण शब्दों में उद्घोषणा करते हैं—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीर मध्ये ॥

शरीर के साथ भी जिसकी एकता नहीं है, पुत्र, कलत्र और मित्र आदि स्पष्ट रूप से भिन्न दिखाई देने वाले पदार्थों के साथ उसकी एकता किस प्रकार हो सकती है। चमड़ी उतार देने के पश्चात् शरीर में रोमकूप कैसे ठहर सकते हैं ?

और जब पुत्र कलत्र आदि जन भी आत्मा के नहीं बन, भवन और वसन आदि जड़ पदार्थ आत्मीय हो सकते हैं, यह सम्भावना ही कैसे की जा सकती है ?

सुख का सुधास्रोत

इस तथ्य को हृदयंगम करके जो भद्र पुरुष समस्त परपदार्थों को आत्मभिन्न समझ लेता है, वह उनके संयोग में सुख और वियोग में दुःख का अनुभव नहीं करता। उसका उपयोग समभाव की प्रधानता है, वहाँ न तो बाह्य पदार्थों के प्रति लालसा, तृष्णा रहती है और न उन्हें उपलब्ध करने के लिए पापाचार किया जाता है। ऐसी स्थिति में जगत् की कोई भी घटना या कोई भी वस्तु आत्मा में क्षोभ नहीं उत्पन्न कर सकती। परिणामतः इसी जीवन में अलौकिक आनन्द का सुधास्रोत प्रवाहित होने लगता है।

कामनाओं पर विजय

मानव मानता है कि सोने, चांदी और जवाहरात से भरी यह तिजोरी मेरी है, गगनस्पर्शी यह हवेली मेरी है और चारों ओर बिखरा हुआ यह वैभव मेरा है और इस पर मेरा अधिकार है। किन्तु एक क्षण आता है जब उसका अहंकार चूर-चूर हो जाता है, उसका स्वप्न भंग हो जाता है और समग्र वैभव उसके अधिकार को चुनौती देता हुआ अपनी राह पकड़ता है। वैभव का अभिमानी स्वामी यह देख कर बिलखता है, दीन बन जाता है, मगर वह वैभव उस पर तनिक भी करुणा नहीं करता।

तो असंदिग्ध है कि जागतिक पदार्थों में ममत्वबुद्धि स्थापित करना और उनकी कामना करना ही दुःख का उद्गमस्थल है। श्रमण भगवान् महावीर ने दुःखों से छुटकारा पाने का एकमात्र और निश्चित उपाय यही बतलाया है—

> कामे कमाही,
> कमियं खु दुक्खं। दशवै. अ. २

हे साधक, अगर तू दुनिया के दुःखों से उद्विग्न हो गया है और उनसे बचना चाहता है, तो एक ही मार्ग है—कामनाओं पर विजय प्राप्त कर। कामनाओं पर विजय प्राप्त कर लेना, दुःखों पर विजय प्राप्त कर लेना है।

जिस प्रकार प्राप्त पदार्थों में आसक्ति या ममता दुःख का कारण हैं, उसी प्रकार अप्राप्त पदार्थों की कामना भी अनर्थों का कारण है।

इच्छाओं का अन्त नहीं

जब तक मनुष्य परिवार बना कर बैठा है, तब तक उसे अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ भी रहती हैं। परिवार का परित्याग करके अनगारवृत्ति स्वीकार करने वाले साधक भी पूरी तरह आवश्यकताओं से परे नहीं हो पाते। आखिर भौतिक शरीर उनके साथ भी लगा है और भौतिक शरीर के निर्वाह के लिए भौतिक पदार्थों की आवश्यकता है। धर्मशास्त्र जीवननिर्वाह का निषेध नहीं करते। अतएव आवश्यकताएँ तो रहेंगी ही, किन्तु कामना के निरंकुश प्रसार से जो आवश्यकताएँ आवश्यकताओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं, उनकी कोई सीमा नहीं होती। जीवन के लिये अनिवार्य साधनसामग्री अल्प ही अपेक्षित होती है और यदि जीवन संयत है तो और भी कम से काम चल सकता है। मगर कामना और तृष्णा मनुष्य के आगे झूठी आवश्यकताओं का जो अपार अम्बार खड़ा कर देती है, उससे बचते रहने की आवश्यकता है।

बहुत बड़ी कठिनाई तो यह है कि कामनाओं की न कहीं सीमा होती है. न अन्त, एक कामना पूरी हुई या नहीं हुई कि तत्काल अनेक कामनाएँ प्रसूत हो जाती हैं। ज्यों-ज्यों लाभ होता है,त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। बल्कि असंयत प्राणी को जो लाभ होता है, वही लोभ की

अभिवृद्धि का कारण बनता है। जब औषध ही रोगवृद्धि का कारण बन जाय तो रोग का अन्त कैसे सम्भव है? भगवान् ने फर्माया है—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

उत्तराध्ययन

इच्छा आकाश की तरह अनन्त है। उसकी पूर्त्ति का प्रयत्न आगे-आगे भागने वाली प्रतिच्छाया को हस्तगत करने के समान निरर्थक सिद्ध होता है। अतएव कामनाओं को पुष्ट करने के बदले नष्ट करना चाहिए। यही अपरिग्रहव्रत का रहस्य है।

निर्लेप वृत्ति

अपरिग्रह का आराधक साधक बाह्य पदार्थों का उपभोग या उपयोग करता हुआ भी उनके प्रति ममतावान् नहीं होता। उसका अममताभाव शनैः शनैः इस सीमा पर पहुँच जाता है कि शरीर, इन्द्रियों और प्राणों के प्रति भी उसे मोह नहीं रह जाता—

अवि अप्पणो वि देहम्मि,
नायरंति ममाइयं।

दशवैकालिक

देह देह है तो रहे। देह है तो उसके निर्वाह का साधन प्रस्तुत कर देंगे। न रहे तो चला जाय। जो वस्तु पराई है, उसके आने में हर्ष क्या और जाने में विषाद क्या?

इस प्रकार की निर्लेपदशा प्राप्त हो जाने पर ही परमात्मावस्था प्रकट होती है।

उधर बहिरात्मा – अज्ञान जीव बाह्य पदार्थों को अपना मान कर उनके अर्जन और संरक्षण में ही संलग्न रहता है। वह अर्जन के लिए

नाना प्रकार के कष्ट कर प्रयास करता है। अनेक प्रकार की पापपूर्ण आजीविकाएँ करता है। पाप-पुण्य की, नीति-अनीति की, धर्म-अधर्म की परवाह नही करता। उसका एक मात्र लक्ष्य भोगोपभोग की सामग्री को अधिकाधिक प्राप्त करना ही होता है। कदाचित् भाग्य ने साथ न दिया तो उसकी मनोवेदना का पार नहीं रहता और अपने जीवन को निस्सार, निस्सत्त्व और हीन समझने लगता है। दिन-रात व्याकुल रहता है और आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान में ही काल यापन करता है। कदाचित् अनुकूल संयोग मिल गये और इच्छित पदार्थ प्राप्त हो गये तो उसका दुःख दुगुना हो जाता है। प्रथम तो इच्छा आगे बढ़ जाती है और उसकी पूर्ति के लिए पहले के समान ही प्रयास चालू रहते हैं। दूसरे, उपार्जित पदार्थों के संरक्षण की नवीन चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। और जब उपार्जित द्रव्य विनष्ट हो जाता है तब तो कहना ही क्या! उसके शोक और उद्वेग की कोई सीमा ही नहीं रहती।

इस प्रकार तृष्णा और ममता वाला मनुष्य किसी भी स्थिति में सुख, शान्ति या सन्तोष प्राप्त नही कर पाता।

परिग्रह पाप का मूल

परिग्रह के लिए लोग हिंसा, झूठ, चोरी आदि अनेक पापों का आचरण करते हैं। अतएव परिग्रह सभी पापों का कारण है। ज्ञानियों ने इसे अनर्थ का मूल कहा है। किन्तु आश्चर्य होता है यह देख कर कि अपरिग्रह को धर्म मानने वाले और परिग्रह को पाप स्वीकार करने वाले समुदाय में भी परिग्रही को पापी नही समझा जाता। जिस प्रकार हिंसक के प्रति घृणा व्यक्त की जाती है, मृषावादी को अनादर दृष्टि से देखा जाता है, चोरों-लुटेरों के प्रति हीन भाव प्रदर्शित किया जाता है और व्यभिचारी को घृणित समझा जाता है उसी प्रकार परिग्रही को पापी

नहीं किन्तु पुण्यात्मा आदरणीय समझा जाता है। कदाचित् हमारा त्यागीवर्ग भी उन्हें अधिक महत्त्व देता है। यह मनोदशा प्रकट करती है कि परिग्रह का पाप समाज की नस-नस में व्याप गया है। उसने मानवीय मस्तिष्क और बुद्धि पर भी अधिकार कर लिया है। यही कारण है कि आज परिग्रह के लिए सभी प्रकार के पाप धड़ल्ले के साथ किये जा रहे हैं। किन्तु हम कुछ भी समझें और मानें, सर्वज्ञ की वाणी कदापि अन्यथा होने वाली नहीं है। परिग्रह पाप ही है और इस जन्म में तथा पर जन्म में घोर दुःख, अशान्ति, चिन्ता, असन्तुष्टि, वेदना, व्यथा और सन्ताप उत्पन्न करने वाला है। जो इस सत्य को हृदय से स्वीकार करके परिग्रह से विरत होगा, वह परममंगल का भाजन बनेगा। उसकी आत्मा में परमात्मभाव की लोकोत्तर ज्योति जगमगा उठेगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त ग्रन्थों के नाम

	ग्रन्थ		लेखक
(१)	विशेषावश्यक-भाष्य	....	जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण
(२)	द्रव्य लोक संग्रह	...	विनय विजय
(३)	धर्म-संग्रह	....	मान विजय
(४)	श्रावक प्रज्ञप्ति	....	आचार्य उमास्वाति
(५)	तत्त्वार्थ-सूत्र	...	आचार्य उमास्वाति
(६)	प्रवचन सारोद्धार	...	नेमिचन्द्र सूरि
(७)	कर्म ग्रन्थ	...	देवचन्द्रजी
(८)	आगमसार	...	देवचन्द्रजी
(९)	लोक प्रकाश	...	विनय विजयजी
(१०)	अष्टाध्यायी-व्याकरण	...	पाणिनि
(११)	सिद्धान्त कोमुदी	...	भट्टोजी दीक्षित
(१२)	रत्नकरण्ड-श्रावकाचार	...	आचार्य समन्तभः
(१३)	भगवद्गीता	...	श्रीकृष्ण
(१४)	योगशास्त्र	....	आचार्य हेमचन्द्र
(१५)	सूरसागर	....	सूरदास
(१६)	रामचरितमानस	....	तुलसीदास
(१७)	महाभारत	...	व्यास
(१८)	गुलिश्तां	...	शेखसादी
(१९)	अर्थशास्त्र	...	कौटिल्य
(२०)	प्रमाण-मीमांसा	...	आचार्य हेमचन्द्र

(२१) वृहद् स्वयंभू स्तोत्र ... स्वामी समन्तभद्र
(२२) भागवत ...
(२३) गौतम कुलक ...
(२४) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय . आचार्य अमृतचन्द्र
(२५) महाप्रत्याख्यान प्रकरण
(२६) आचारांग
(२७) सूत्रकृताङ्ग
(२८) स्थानाङ्ग
(२९) भगवती
(३०) उपाशक दशाङ्ग
(३१) दशवैकालिक
(३२) उत्तराध्ययन
(३३) प्रज्ञापना
(३४) आवश्यक सूत्र
(३५) संथार पइन्ना ...
(३६) आलोचना पाठ ...
(३७) योग विन्दु ... आचार्य हरिभद्र
(३८) उर्दू शायरी ...
(३९) परमात्म प्रकाश ...
(४०) नन्दी सूत्र ...
(४१) ज्ञातृधर्म कथा ...
(४२) विष्णु पुराण ...
(४३) श्रावकाचार ...
(४४) राजप्रश्नीय ...
(४५) पञ्चाशक ... आचार्य हरिभद्र
(४६) पञ्चाध्यायी ...

(४७) जैन तर्क भाषा .... उपाध्याय यशोविजय
(४८) तत्त्वार्थ भाष्य ...
(४९) अध्यात्ममत परीक्षा ....
(५०) योगावतार द्वात्रिंशिका ...
(५१) प्रमाणनय तत्त्वालोक ... देवसूरि
(५२) आवश्यक निर्युक्ति ... आचार्य भद्रबाहु
(५३) सप्ततिस्थान प्रकरण ....
(५४) त्रिषष्टि शलाका पुरुष ... आचार्य हेमचन्द्र
(५५) आवश्यक-बृहद्वृत्ति ...

आभार

प्रस्तुत प्रकाशन में जिन निम्न महानुभावों ने आर्थिक सहायता प्रदान कर अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक भावना का परिचय दिया उनका हम हृदय से स्वागत करते हैं –

५०१) श्रीमान् हस्तीमल जी सागर मल जी मेहता ३६, विठलवाड़ी, बम्बई, २ ।

३००) एक सद्गृहस्थ सादड़ी द्वारा श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ उपाध्यक्ष अनोपचन्द पुनमिया ।

२५०) श्रीमान बच्छराज जी अन्याव, बालोतरा (राजस्थान)